

साम्बपञ्चाशिका

राजानकश्रीक्षेमराजकृतया टीकया समेता

कुलपतिश्रीविद्यानिवासमिश्रप्ररोचनया
समलङ्कृता

सम्पादकः
म० म० गोपीनाथकविराजः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी

YOGATANTRA-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 18]

SĀMBAPAÑCĀSIKĀ

WITH THE COMMENTARY
OF

RĀJĀNAKA ŚRĪKSEMARĀJA

FOREWORD BY

DR. VIDYANIWAS MISRA
VICE-CHANCELLOR

INTRODUCTION BY

ĀCĀRYA ŚRĪ SĪTĀRĀMA ŚĀSTRĪ KAVIRĀJA

EDITED BY

M. M. GOPĪNĀTHA KAVIRĀJA

Ex-Head of the Dept. of Yogatantra
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi



V A R A N A S I

1 9 9 2

**Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi**



**Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.**



**Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University,
Varanasi-221 002.**



**Second Edition— 500 Copies
Price Rs. 12-00**



**Printed by—
Ghan Shyam Upadhyaya
Manager,
Sampurnanand Sanskrit University Press
Varanasi.**

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[१८]

साम्बपञ्चाशिका

राजानकश्रीक्षेमराजकृतविवृतिसमेता

कुलपतिश्रीविद्यानिवासमिश्रप्ररोचनया

आचार्यश्रीसीतारामकविराजकृतभूमिकया च समलङ्कृता

सम्पादकः

म० म० गोपीनाथकविराजः

योगतन्त्रविभागाध्यक्षचरः,

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

वाराणसी



वाराणस्याम्

२०४९ तमे वैक्रमान्दे

१९१४ तमे शकाब्दे

१९९२ तमे ख्रिस्ताब्दे

अनुसन्धानप्रकाशनपर्यवेक्षकः—

निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णनिन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी ।



प्रकाशकः—

डॉ० हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णनिन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१ ००२.



प्राप्तिस्थानम्—

विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णनिन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१ ००२.



द्वितीयं संस्करणम्, ५०० प्रतिरूपाणि

मूल्यम् — १२ = ०० रूप्यकाणि



मुद्रकः—

घनश्याम-उपाध्यायः

व्यवस्थापकः,

सम्पूर्णनिन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयीय-मुद्रणालयस्य
वाराणसी ।

प्ररोचना

साम्बन्धशाशिका त्रैपुर-सिद्धान्त का अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें बाह्य गगन स्थित एवं भीतर चिद्गगन में आलोकित प्रकाशात्म सूर्य का ऐक्य मुख्य प्रतिपाद्य है। यह ग्रन्थ संक्षिप्त होता हुआ भी अत्यन्त सघन भावपूर्ण है। इसमें साधना के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्तरों का उन्मीलन किया गया है। यह लघु-ग्रन्थ राजानक श्रीक्षेमराज की टीका के साथ प्रकाशित हो रहा है। पहले यह ग्रन्थ 'तन्त्रसङ्ग्रह' में छपा था। इसका महत्त्व देखते हुये इसे अलग लघु-ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इसके महत्त्व को देखते हुए यह आवश्यकता समझी गयी कि सर्वसाधारण द्वारा ग्राह्य भूमिका के साथ इसका प्रकाशन हो।

मेरे अनुरोध पर पूज्य ब्रह्मलीन स्वामी करपात्री जी के अनन्य शिष्य श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ (श्रीसीताराम कविराज) ने इसकी भूमिका एवं श्लोकों का संक्षेप भी लिखा है। इस व्याख्यान में सातत्य-दृष्टि से बहुत-सी नयी बातें आ गयी हैं, जिससे ग्रन्थ को समझने में बड़ी सहायता मिलेगी। किस प्रकार मन, वाणी तथा इन्द्रिय चिन्मय होते हैं और नादतत्त्व किस प्रकार चिन्मयता का साधन करता है, इस सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर, विशेष कर पाँचवे से नवें श्लोकों तक बड़े ही सटीक संकेत हैं।

यह लघु-ग्रन्थ योगतन्त्र-विभाग के पाठ्यग्रन्थ के रूप में भी निर्धारित है। अतः विद्यार्थियों की आवश्यकता को देखते हुए इस ग्रन्थ को हिन्दी-भूमिका एवं विषय-संक्षेप के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। मैं इस भूमिका एवं विषय-संक्षेप के लिए पूज्य श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ जी का आभार मानता हूँ।

आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ छात्रों एवं विद्वानों द्वारा समादृत होगा।

वाराणसी

गङ्गादशहरा,

वि० सं० २०४९

}
}
}

विद्यानिवास मिश्र

कुलपति,

सम्पूर्णनिन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

150

124385

1572

1895-1896

विषयानुक्रमिका

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
आभास	१-१४
विषय-संक्षेप	१-२९
सामान्यव्याप्त्या परमार्कस्तवनम्	१
देहस्थमध्यनाडीव्याप्त्या स्तुतिः	२
महाव्याप्त्या सूक्ष्मव्याप्त्या प्रपञ्चव्याप्त्या च चिदर्कनमनम्	३
वाणीस्तवनम्	३-४
परमादित्यमूर्तिब्रह्मनाडीसन्निविष्टा	५
युगपदन्तर्बहिश्चार्कमूर्तिस्तवनम्	६-१२
अग्नीषोमावखिलजगतः कारणम्	१३
शब्दब्रह्मभावनम्	१४
स्थूलसूक्ष्मपररूपस्य चिदर्कस्य त्रयीमयत्वम्	१५-१८
चिदर्कस्याण्डचतुष्टयव्यापकत्वम्	१९
चिदर्कस्य कालकलनाकर्तृत्वम्	१९-२०
अहोरात्रप्रशमे रुढा लोकोत्तराः	२१
चिदर्कादेव जगदुदयापायो	२१-२३
चिदर्कस्य जगन्मित्रताप्रतिपादनम्	२४-२५
समावेशदशाप्रार्थनम्	२६
चिदर्कस्य सर्वश्रुतिमयत्वम्	२७
दिनकरस्यारोग्यभोगमोक्षप्रदत्वम्	२८-२९
उन्मनाख्यस्य मध्यमपथस्य जीवन्मुक्तिप्रदत्वम्	३०
स्तोत्रस्यास्य साम्बकृतित्वनिवेदनम्	३१
फलश्रुतिः	३२

1930-1931

॥ श्रीः ॥

आभार

‘साम्ब-पञ्चाशिका’ वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण के पुत्र, जाम्बवती से उत्पन्न श्रीसाम्ब द्वारा विरचित है। इसमें ५३ पद्य हैं। स्वात्मविवस्वत् ‘चिदकं’ की पचास पद्यों में स्तुति एवं तीन पद्यों में पुष्पिका है। यह परम रहस्यमय आध्यात्मिक गहन ग्रन्थ है। महामाहेश्वर राजानक क्षेमराज ने इस पर संस्कृत भाषा में टीका लिखकर इसके रहस्य को प्रकट करने का प्रयत्न किया है; परन्तु आगम के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होने से सर्वसाधारण के लिये सुगम नहीं है। एतदर्थ इसके पद्यों के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर करने का प्रयत्न किया गया है; परन्तु रहस्यमय ग्रन्थों के अनुबन्ध-चतुष्टय का ज्ञान होने पर उनको समझने में सुगमता होती है। आर्ष ग्रन्थों में सामान्यतया अनुबन्धों का प्रारम्भ में निर्देश रहता है—

“अनुबन्धो नाम विषय-प्रयोजन-अधिकारी-सम्बन्धः” ।

इस ग्रन्थ में शेष में ५१ वें श्लोक में अधिकारी और प्रयोजन का संकेत किया गया है। यथा—

‘रागद्वेषोपशमसमतायोगमेवारुरुक्षुः’ ।

सर्व दोषों के मूर्धन्य राग और द्वेष के उपशमन से समता रूपी योग पर आरुढ़ होने की इच्छा वाला, यह कहकर ‘अधिकारी’ का संकेत किया है। ‘धर्माधर्मग्रसनरसनामुक्तये युक्तियुक्तम्’ पुण्य और पाप से जो ग्रसन अर्थात् जगत् के अबुद्ध प्राणियों की बन्धनरूप रज्जु, उसकी मुक्ति के लिये स्तुति की रचना की, इस स्तोत्र के पारायण और विमर्श से धर्माधर्म रूप बन्धनों से मुक्त होकर जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार निर्देश करके ‘प्रयोजन’ का प्रतिपादन किया है। शेष के ५३ वें श्लोक में ‘सम्बन्ध’ और ‘विषय’ का विवेचन किया है।

(२)

इति परमरहस्यश्लोक—पञ्चाशदेषा
तपनवनपुण्या सागमब्रह्मचर्चा ।
हरतु दुरितभस्मद्विणिता कर्णिता वो
दिशतु च शुभसिद्धिं मातृवद् भक्तिभाजाम् ॥

यह परमरहस्य परिपूर्ण पञ्चाशत् श्लोकों की स्तुति है, 'चिदकं' के नमन से पुण्य-पवित्र-यशस्य हुई और केवल स्तुतिमात्र ही नहीं, सागम-ब्रह्मचर्चा है, महेश्वर शिवप्रणीत तन्त्र-आगम सम्बन्धिनी चर्चा है। स्वच्छन्द-तन्त्र की दृष्टि के अनुसार आगम शब्द शक्ति का वाचक है 'अतः आगमेन शक्त्या सह ब्रह्म-शिवः, सागमब्रह्म-शक्तियुक्तः शिवः तस्य चर्चा-विषयः सागमब्रह्मचर्चा'। यह शिवशक्तिविषयक चर्चा है। 'मातृवद् भक्तिभाजाम्' के संकेत से शाक्नोपासनाविषयक शाक्ताद्वैत की गम्भीर चर्चा ही इसका मुख्य विषय है, एतदर्थ यही आलोचना का विषय है।

‘श्रीसाम्बेन प्रकटगहनं स्तोत्रमध्यात्मगर्भम्’ ।

प्रकट-गहन का तात्पर्य है कि बाह्य अर्थ में प्रकट और आध्यात्मिक अर्थ में गहन है। श्लेष से बाह्य सूर्यपरक अर्थ भी होता है; क्योंकि 'ज्ञानशक्ति-परा ह्येषा तपत्यादित्यविग्रहा' इस दृष्टि से इस स्तोत्र में अकं, सूर्य, दिनकर आदि सूर्य के नामों से और कहीं पर परमादित्य, विश्वमूर्ति, चिदकं, चिद्भानु आदि नामों से भी सम्बोधन किया है, आचार्य क्षेमराज इन नामों का पर्याय चिन्मरीचिकेश्वर, चिदानन्दघन, चिन्मय, अनाहत भट्टारक आदि किये हैं। गहन-अध्यात्मगर्भ का तात्पर्य है कि कायिक, वाय्विक, मानसिक उपासनाओं से ऊपर अन्तर्मुख वृत्ति द्वारा गम्य चिद्विलास चिदानन्दघन आत्मतत्त्व का स्तवन है। उक्त उपासनाओं से अन्तर्मुख वृत्ति किस प्रकार प्राप्त होती है, इसी पर किञ्चित् विचार किया जाय।

सागम-ब्रह्मचर्चा—इस पद का प्रयोग सांकेतिक है। आगम शब्द से श्र परमशिवभट्टारकप्रणीत तन्त्र-आगमशास्त्रों का बोध होता है और ब्रह्मचर्चा शब्द उपासना का संकेत करता है। सकार सम्बन्ध का वाचक है। अतः यह तन्त्र, आगम सम्बन्धी उपासना का ग्रन्थ है।

आगमों का प्रामाण्य निर्विवाद सिद्ध है। हमारे आचार्यों ने निगम, आगम को स्वतःप्रमाण माना है। "अस्तसमस्तपुंदोषशङ्कापङ्ककलङ्को वेदः"

(३)

इस हेतु से “वेदाः प्रमाणम्” प्रमादविप्रलिप्साकरणापटवादि मनुष्यस्वभाव-सुलभ दोषों से रहित शिव द्वारा प्रोक्त होने से आगमाः प्रमाणम् । तन्त्रागमों के विशाल साहित्य में मतमतान्तरों की मान्यतानुसार विभिन्न उपासना-पद्धतियों का निर्देश है ।

अविच्छिन्न सम्प्रदाय होने से त्रैपुरसिद्धान्तानुसार “त्रिपुरोपासना” श्रीविद्योपासना ही सर्वोत्तम मानी गयी है ।

संवित् तत्त्व—आगमशास्त्रों का त्रैपुरसिद्धान्त विभिन्न उपासना-प्रणालियों को अनुप्राणित करता है । इसका मौलिक सिद्धान्तसार संवित्-तत्त्व है । शाक्ताद्वैत की दार्शनिक भित्ति संवित्-तत्त्व पर ही आधारित है । काश्मीर शैवाद्वैत का भी मूल निष्कल अनुत्तर तत्त्व संवित् ही है ।

सर्वप्रथम उपासना के सिद्धान्तों से अवगत होना परमावश्यक है । इस ग्रन्थ में प्रोक्त विषय के यथार्थ ज्ञान के लिये भी यह आवश्यक है । अतः त्रैपुरसिद्धान्त की आलोचना भी आवश्यक है ।

त्रैपुरसिद्धान्त का स्वरूप—तत्रायं सिद्धान्तः—“षट्त्रिंशत्तत्त्वानि विश्वम्”, “शरीरकञ्चुकितः शिवो जीवो निष्कञ्चुकः परमः शिवः”, “स्वविमर्श-पुरुषार्थः”, “वर्णात्मिका नित्याः शब्दाः”, “मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता”, “सम्प्रदायविश्वाभ्यां सर्वसिद्धिः” आदि, श्रीपरशुराम कल्पसूत्र के इन सूत्रों में त्रैपुरसिद्धान्त का सारभूत संक्षिप्त ज्ञान भरा हुआ है ।

रामेश्वरवृत्ति में इनकी व्याख्या की गयी है, सूत्रानुक्रम से वहीं पर श्रीचक्राधिष्ठात्री श्रीललिता महात्रिपुरसुन्दरी पराभट्टारिका महाषोडशी की उपासना के लिये क्रमपूर्वक पूजापद्धति का विधान वर्णित है ।

भारतीय आध्यात्मिक महार्णव से समुद्भूत षोडशकलापूर्ण सुधाकर के समान श्रीविद्या नाम समस्त आध्यात्मिक जगत् को आलोकित करता है । यही ब्रह्मविद्या है । “परा विद्या” भी यही है । इस विद्या की अधिष्ठात्री देवता संविदात्मिका महाशक्ति श्रीललिता त्रिपुरसुन्दरी है । इसकी उपासना का अपरिमित महत्त्व है । समुपलब्ध आप्त तन्त्रग्रन्थों में अनुक्रम से त्रिविध उपासना का विधान मिलता है । वह इस प्रकार है—

(४)

त्रिविध उपासना

श्रीपरशुरामकल्पसूत्र योगिनीहृदय, त्रिपुरारणव आदि त्रैपुर-सिद्धान्त के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, इनमें क्रमानुसार हेयोपादेयता से न्यूनाधिक्य रूप से स्थूल, सूक्ष्म, पर, इस त्रिविध साधना का विधान वर्णित है।

योगिनीहृदय में परा, परापरा, अपरा पूजा के नाम से वर्णित है। अपरा स्थूलोपासना, परापरा सूक्ष्मोपासना परापर उपासना की विधि एवं महत्त्व का समीचीन प्रतिपादन है। भास्करराय अमृतानन्द योगी आदि श्रीविद्यानिष्णात आचार्यों की टीका से यह मणि-काञ्चन योग हो गया है।

स्थूलोपासना में शास्त्रोक्त लक्षण युक्त गुरु से मन्त्रदीक्षा प्राप्त करके, इष्ट मन्त्र का विधिपूर्वक पुरश्चरण रूप में जप करना, विहित पद्धति के अनुसार आह्निक प्रकरणोक्त प्रातःस्मरणादि सन्ध्योपासन सपर्याप्रकरणोक्त भूतशुद्धि, प्राणायाम, मातृकान्यास, इष्टमन्त्रन्यास आदि इसके अनिवार्य अंग हैं।

‘देवो भूत्वा यजेद्देवान्नादेवो देवमचंयेत्’ । मन्त्र न्यास से शरीर देवमय हो जाता है और साधना में आलस्यादि दोषों का निवारण होता है।

इस बाह्य अर्चन से स्थूल शरीर में व्याप्त आणव मल का अपनोदन होता है और मानसिक चञ्चलता का भी ह्रास होता है। इसके स्थूलोपासना, बहिर्याग अपरा पूजा आदि नाम हैं। इससे सूक्ष्मोपासना ‘अन्तर्याग’ करने की योग्यता प्राप्त होती है।

सूक्ष्मोपासना—सूक्ष्मोपासना को ‘परापरापूजा’ तथा अन्तर्याग भी कहते हैं। पूर्वोक्त स्थूलोपासना से स्थूल शरीर में स्थित आणव मल दूर हो जाने से अन्तर्याग करने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसमें सब भावनात्मक मानसिक व्यापार हैं। पूर्वोक्त ग्रन्थों में न्यूनाधिक रूप में यत्र तत्र वर्णित है।

“मुख्य रूप से इसमें निरन्तर मानसिक जप का विधान है। और जैसे श्रीयन्त्र की बाह्य पूजा की जाती है उसी प्रकार हृदय में श्रीयन्त्र का ध्यान करके उस पर विराजमान भगवती का मानसिक पूजन किया जाता है। बाह्य पूजा में गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्यादि जितनी वस्तुएँ समर्पित

(५)

की जाती हैं, उन सभी वस्तुओं की मानसिक कल्पना करके हृदय स्थित भगवती को समर्पित किया जाता है। 'यद्यद् बाह्ये वक्ष्यमाणं तत्तदन्तर-माचरेत्'। इस तरह मानसिक पूजा के प्रधान अङ्ग मानसिक भावनात्मक पूजा एवं मानसिक जप हैं। ज्ञानार्णवादि तन्त्र-ग्रन्थों में अन्तर्यागि विभिन्न प्रकार से भी वर्णित है— 'आमूलाधाराद् आब्रह्माविलं विलसन्ती' मूलाधार चक्र से ब्रह्म-रन्ध्रपर्यन्त कुण्डलिनी का ध्यान करके पुनः षट् चक्रों में श्रीयन्त्र के नवा-वरण देवताओं का पूजा-विधान वर्णित है। श्रीविद्यारत्नाकर और श्रीविद्या-वरिवस्या में यह प्रकार वर्णित है, विस्तृत रूप में वहीं द्रष्टव्य है।

‘स्वप्रधा प्रसराकारं श्रीचक्रं पूजयेत्सुधीः’ ।

योगिनीहृदय में अन्तर्यागि के लिए यह वचन लिखा है। योगिनीहृदय के व्याख्याकार आचार्यों ने इस वचन का विस्तृत विवेचन किया है। श्रीभास्करराय ने सेतुबन्ध व्याख्या में नाना तन्त्रों के अनेक वचन उद्धृत किये हैं। अमृतानन्द योगी ने इस विषय के व्याख्यान में दीपिका टीका में “मुख्याम्नायरहस्य” का एक वचन उद्धृत किया है—

इन्द्रियग्रामसंग्राह्यैर्गन्धाद्यैरात्मदेवताम् ।

स्वाभेदेन समाराध्य ज्ञातुस्सोऽयं महामखः ॥

बहिर्यागि और अन्तर्यागि करता हुआ माधक साधना के परिपाक से जब सिद्धि प्राप्ति के सन्निकट पहुँचना है, तो उसमें एक विशिष्ट अवस्था का आविर्भाव होता है। वह इन्द्रियों द्वारा भोग्य पदार्थों को हृदयस्थ देवता के अर्पणबुद्धि से ही सेवन करता है। अर्थात् हृदय में स्थित आत्मदेवता भगवती को अपने से भिन्न न समझकर अभेद भाव से इन्द्रियों द्वारा गृहीत गन्धादि विषयों से उनकी पूजा करता है। ये ज्ञाता के लिए महामख है। वह इस प्रकार निरन्तर महायज्ञ कर रहा है। जैसा कि गीता में कहा है—

श्रोत्रं चक्षुस्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च ।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥

इसी बात को विशेष भङ्गिमा से कहा है—

विश्वोद्यानविरूढानि गन्धप्रमुखानि सुगन्धीनि पुष्पाणि ।

पञ्चापि आजिघ्नन् क्रीडति त्रैलोक्यधूर्तो देवः ॥(म०म०)

(६)

वस्तुतः वह चैतन्यात्मा ही इन्द्रिय और मन के द्वारा समस्त विषयों का उपभोग करता है। उस चैतन्य से रहित दृश्यमान यह स्थूल शरीर जड़ और निष्क्रिय ही है। इसलिए उपरोक्त वचन में 'ज्ञातुस्सोऽयं महामखः', ऐसा जिसको ज्ञान है कि मैं जो कुछ ग्रहण करता हूँ, वह स्वात्म देवता की पूजा है। उसके लिए यह महायाग है। इस पूजा का यही वैशिष्ट्य है कि इसमें ऐसी भावना करना अनिवार्य है। इस तरह शनैः शनैः भावित मति होकर शेष में साधक स्वात्मनिष्ठ हो जाता है। योगिनीहृदय में इसको परा-परा पूजा की संज्ञा दी गई है। यह द्वैताद्वैत भाव का सम्मिश्रण है। योगिनी-हृदय पर आधारित हादि-विद्यापद्धति, 'ज्ञानदीपविमर्शिनी' में तो बहिर्याग और अन्तर्याग दोनों को साथ-साथ करने का विधान है; परन्तु यह शुद्धान्तःकरण वालों के लिये ही उपयुक्त हो सकता है। अस्तु, द्वैताद्वैतरूप इस परा-परा पूजा में साधक की जब तत्परता हो जाती है तो उसको सांसारिक कर्मों से विरति और विषयों में निरसता प्रतीत होने लगती है। दीक्षा में प्राप्त मन्त्र का प्रारम्भ में मानसिक जप और इस परापरा पूजा में चैतन्य हुए इष्ट मन्त्र का मध्यधाम में स्फुरित स्पन्द में जप होने लगता है। इस जप में मन और प्राण दोनों का ही प्रभाव नहीं रहता है, यह मन्त्र का सकल-निष्कल रूप है। शेष में इसी मन्त्र की निष्कल रूप में परिणति होती है।

इस जप के विषय में श्रीगोपीनाथ जी कविराज ने नादतत्त्व नामक हिन्दी निबन्ध में लिखा है, गुरुदत्त मन्त्र अथवा भगवन्नाम का निष्ठापूर्वक यथा-विधि उच्चारण करते-करते क्रमशः ऐसी एक अवस्था का उदय होता है, जब चेष्टापूर्वक उच्चारण की आवश्यकता नहीं होती। मन्त्र अथवा नाम तब अपने आप ही कण्ठ से स्फुरित होता रहता है, अथवा कण्ठनिरोध होने पर हृदय में चलता रहता है। अतएव स्थूल रूप से उच्चारण का सामर्थ्य भी तब नहीं रहता, अथवा भीतर स्वतः स्फूर्त रूप से उच्चारण चलता रहता है। यह स्पष्टतः सुना जाता है। इस अवस्था को साधक साधारणतः जप करना अथवा नामकीर्तन करना नहीं कहते यह जप अथवा नामकीर्तन की अपने आप होने वाली अवस्था है; क्योंकि यह किसी की इच्छा अथवा प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखती। साधक केवल सावधान चित्त से इस भीतर के नाम के खेल को लक्ष्य कर आनन्दित होते हैं।

(७)

देखा जाता है कि सद्गुरु द्वारा दिया गया नाम चैतन्यसम्पन्न होने से साधक का हृदय यदि परिष्कृत हो तो अपने आप ही चलता रहता है। इसको चेष्टा करके चलाना नहीं पड़ता। इसका एकाग्रभाव से श्रवण करना चाहिए। साधक के सुदीर्घकाल के अभ्यास से विशेषतः श्रद्धा-भक्ति के प्रभाव से साधारण रूप से अनुष्ठित जप भी उस प्रकार की अवस्था में परिणत हो जाता है। यही मन्त्रचैतन्य का पूर्वाभास है।

तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त-दृष्टि -

मन्त्र-चैतन्य होना ही शुद्ध विद्या का उदय है। जैसा कि 'शिवसूत्र' में कहा है—'शुद्धविद्योदयः चक्रेशत्वसिद्धिः'। इसे ही मध्यमधाम-प्रवेश कहा जाता है। पूर्वोक्त अन्तर्यामि इस अवस्था में पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। इस विषय का तन्त्रग्रन्थों में विशद वर्णन उपलब्ध है, गन्धर्वतन्त्र में विस्तृत वर्णन है। साधक की प्रत्येक बाह्य क्रिया अन्तर्यजन के रूप में परिवर्तित कर दी गयी है। यही सुषुम्ना नाड़ी के विकास की भूमिका है।

सुषुम्ना 'ब्रह्मनाड़ी'—बहिर्यामि और अन्तर्यामि का अनुशीलन करते हुए साधक के बाह्यशरीर और अन्तःकरण के आणव और मायिकमलों की शुद्धि हो जाती है, तब सुषुम्ना नाड़ी का विकास होता है। यह क्या स्थिति है और कैसे प्राप्त होती है, इसी साम्बपञ्चाशिका में 'प्राणापानशसननिरतैः प्राप्यते ब्रह्मनाडी' इस पद से इसकी उपलब्धि का संकेत किया है। 'इड़ा और पिङ्गला नाड़ी' से दक्षिण और वाम नासिका में निरन्तर संचरण करने वाले प्राण और अपान व यु का निरोध करने से सुषुम्ना ब्रह्मनाड़ी का विकास हो जाता है। गीता में भी यही कहा है—

'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ'।

प्राणापान की समानता से जब सुषुम्ना का विकास होता है तब मन विलीन हो जाता है और अन्तर्मुख एकाग्रता वृत्ति से हृदय स्थित अनाहत नाद का श्रवण होने लगता है, इससे साधक आनन्दविभोर हो जाता है। इस स्थिति का साधक शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता, केवल अनुभव ही करता है, यह स्वसंवेद्य अवस्था है। सिद्ध पुरुषों ने इसका प्रकारान्तर से स्तुति के रूप में वर्णन किया है। जैसे—

(८)

आनन्दलक्षणमनाहतनाम्नि देशे
 नादात्मना परिणतं तव रूपमीशे ।
 प्रत्यङ्मुखेन मनसा परिचीयमानं
 शंसन्ति नेत्रसलिलैः पुलकैश्च धन्याः ॥

हे ईशे ! अनाहत नाम के हृदय प्रदेश में नाद रूप में परिणत तुम्हारा ही रूप है, यह अन्तर्मुख वृत्ति से पहचाना जाता है, योगी जो धन्य हैं, वे अश्रु-धारा और रोमाञ्च के द्वारा ही इसका कथन करते हैं। अनाहत नाद श्रवण करते हुए कुछ काल के बाद आनन्द अश्रुओं की धारा बहने लगती है और शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। श्रद्धा-भक्ति से उपासना करने वाले साधकों के प्रारम्भिक साधना काल में कदाचित् एकाग्रता होने पर इस स्थिति का अनुभव होता है। विधिवत् मन्त्रयोग के उपासकों को जब मन्त्रचैतन्य होने लगता है, तो अस्फुट रूप में यह स्थिति बनती है। क्षुधा, निद्रा आदिकों की अल्पता, एकान्त वास, मन, वाणी पर संयम आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

‘विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः’ ।

इसी समय ‘उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः’ के अनुसार तत्त्व-दर्शी गुरु बोधामृत का पान करता है, अर्थात् अपने सम्प्रदायानुसार किसी प्रणव बीज का उपदेश करता है, यही मुख्य शक्तिपात है। प्रारम्भ काल में यह स्वल्प रूप में होता है, और जपादि कर्मानुष्ठान से मुख्य शक्तिपात का अधिकारी होता है। इससे प्रवृद्ध होकर स्वस्थिति का स्वयं स्पष्ट अनुभव करने लगता है।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं प्रोच्वरेद् नादमन्तरम् ।

एष एव जपः प्रोक्तः न तु बाह्यजपो जपः ॥

इन्द्रियों का संयम करके अन्तर में नाद का उच्चारण करे, यही वास्तविक जप है। ऐसे जप द्वारा उपासना की तीव्रता से मन्त्रचैतन्य हो जाता है। अनवरत अभ्यास से कुण्डलिनी जागृत हो जाती है और षट् चक्रों का भेदन होता है। सुषुम्ना नाड़ी का पूर्ण विकास हो जाता है। वह मन्त्र सुषुम्ना मार्ग में स्फुरित होकर पूर्ण सिद्ध हो जाता है, हंसपारमेश्वर तन्त्र में लिखा है—

(९)

पशुभावे स्थिता मन्त्राः केवला वर्णरूपिणः ।

सौषुम्णेऽध्वन्युच्चरिताः पतित्वं प्राप्नुवन्ति ते ॥

सुषुम्ना नाड़ी में एक बार भी मन्त्र का उच्चारण होने से एक लक्ष जप से भी अधिक फल होता है । यह जया तन्त्र का प्रमाण है । यथा—

एकस्य मन्त्रनाथस्याप्यन्तर्बाह्योदितस्य च ।

यदैक्यं तं जपं विद्धि लक्षसंख्याधिकं मुने ॥

उस सुषुम्ना के बल को प्राप्त करके सर्वज्ञादि समस्त शक्ति वाले मन्त्र साधक के अधिकार में आ जाते हैं । जैसे शरीर के अवयव हस्त-पादादि से स्वेच्छानुसार कार्य करते हैं, उसी तरह मन्त्र से भी वाञ्छित कार्य सम्भव हो जाते हैं । यही स्पन्दकारिका में कहा है—

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ।

प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनः ॥

इस प्रकार मन्त्रराज कामधेनु कल्पलता के समान फलोन्मुख हो जाता है ।

अब उपासना साञ्जन और निरञ्जन—दो मार्ग में विभक्त होती है । साञ्जन उपासना वह है, जिसमें सांसारिक ऐश्वर्यों की उपलब्धि होती है । सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व शिवोऽहं की उपलब्धि निरञ्जन उपासना है । अधिकतर साधक सिद्धियों के चमत्कारों के प्रलोभन में आ जाते हैं, आश्रम, मठ, मन्दिर, मान, प्रतिष्ठा आदि लौकिक वैभव को ही साधना की इतिश्री मान बैठते हैं; परन्तु ये सिद्धियाँ अपूर्ण ख्याति है, और शिवत्व की प्राप्ति पूर्ण ख्याति है । जैसा कि विरूपाक्षपञ्चाशिका में कहा है—

ख्यातिमपूर्णा पूर्णख्याति समावेशदाढ्यतः क्षपय ।

सृज भुवनानि यथेच्छं स्थापय हर तिरय भासय च ॥

‘शिवोऽहं’ समावेश की दृढ़ता से सिद्धिरूप अपूर्णता का परित्याग करके समस्त सिद्धियों के समष्टि रूप परम ऐश्वर्य शिवत्व से सम्पन्न होकर विश्व के सृजन, पालन आदि इच्छानुसार समस्त कार्य करने का सामर्थ्य प्राप्त करो । जब साधक सिद्धियों के मोह का परित्याग करके शिवत्वप्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होता है, यही शाक्त समावेश से शाम्भव समावेश में सूक्ष्म से पर में प्रवेश है ।

(१०)

पर उपासना—अब उपासना का क्रम तीव्रतर हो जाता है। साधक प्रतिदिन विश्वमेघ यज्ञ का अनुष्ठान करता है। 'पुण्य-पाप', 'कृत्य-अकृत्य', 'संकल्प-विकल्प', 'धर्म-अधर्म' रूप हवि का मन रूपी स्तुव से सुषुम्ना मार्ग से स्वात्मरूप प्रदीप्त वह्नि में होम करता है, अन्तर में निरन्तर निरिन्धन प्रज्ज्वलित ज्ञानरूपी संविद् अग्नि की अद्भुत मरीचियों की विकास भूमि में शिव से पृथिवी पर्यन्त समस्त विश्वरूप हवि प्रदान करता है—

सर्वभावमयभावमण्डलं विश्वभावमयशक्तिर्बहिषि ।

जुह्वतो मम समोऽस्ति कोऽपरो विश्वमेघमययज्ञयाजिनः ॥

धर्माधर्महविर्दीप्ते स्वात्माग्नौ मनसा सृचा ।

सुषुम्ना वर्त्मना नित्यमक्षवृत्ति जुहोम्यहम् ॥

अन्तर्निरन्तरनिरिन्धनमेघमाने

मोहान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ ।

कस्मिंश्चिदद्भुतमरीचिविकासभूमौ

विश्वं जुहोमि वसुधादि शिवावसानम् ॥

आत्मनिष्ठ अहन्ता में विश्वनिष्ठ इदन्ता का समावेश करते हुए इस महायज्ञ की पूर्णाहुति सम्पन्न करता है ।

“इतः पूर्वं प्राण-बुद्धिधर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत् स्मृतं यदुक्तं यत् कृतं तत् सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा” । अनादि वासना रूप इन्धन से प्रज्ज्वलित चिदग्नि कुण्ड में हव्य प्रदान करता है कि इसके पूर्व प्राण-बुद्धि-धर्म से अधिकृत जाग्रतादि तीनों अवस्थाओं में मन, वचन, कर्म से हस्त-पादादि इन्द्रियों से स्मृत उक्त कृत समस्त कर्म 'ब्रह्मार्पणमस्तु', इस प्रकार समस्त कर्मों को ब्रह्म में अर्पण करके 'येन त्यजसि तत्त्यज' के अनुसार स्वयं का भी उस तत्त्व में होम करता है । 'अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा' । इसके अनन्तर धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप आदि कर्मों का बन्धन भंग हो जाता है । सांसारिक कर्मों को करते हुए भी 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' निर्लेप रहता है, जैसा कि गीता में कहा है—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

आत्मनिष्ठ योगी को समस्त कर्मों में कर्तृत्व अभिमान नहीं होता है; क्योंकि भोक्ता और भोग्य को एक ही तत्त्व मानता है, भेद दृष्टि नहीं

(११)

रहती है। बाह्य भाव से सर्व साधारण की तरह व्यवहार में प्रवृत्त होने पर भी सावधान है।

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिसामान्या सर्व-देहिनाम्।

‘योगिनान्तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता’ ॥

इस प्रकार परम सत्ता में स्वसत्ता समर्पण रूप महायज्ञ का फल चित्-चमत्कार रूप स्वात्मचिन्तन में ही परिणत हो जाता है। और संवित्-सरोवर से समुद्भूत शाक्ताद्वैतरूपी सरोज के सुमधुर गन्ध घ्राण से प्रमुदित होकर अतृप्तभाव से अद्वैत अरविन्द के मकरन्द का पान करने के लिए लोलुप हो जाता है। यही द्वैताद्वैत से अद्वैततत्त्व में प्रवेश, सूक्ष्म से ‘पर’ में प्रवेश है। और सिद्धि अवस्था से सिद्धावस्था की ओर प्रयाण प्रारम्भ हो जाता है। इस अवस्था में साधक का सब बाह्यकर्मानुष्ठान समाप्त हो जाता है। अन्तर, बाहर चैतन्य आत्मतत्त्व ही सर्वत्र विजृम्भित होता है। ध्यान, पूजा, जप, स्तोत्रपाठादि विडम्बना मात्र हो जाता है, केवल अज्ञ कर्मसङ्गी भेदवादियों में बुद्धि भेद न हो, एतदर्थ प्रदर्शन मात्र रहता है। यथोक्तम्—

‘यत्र यत्र मिलिता मरीचयस्तत्र तत्र विभुरेव जृम्भते।

तत् सतां हि नियमावलम्बिनां ध्यानपूजाकथाविडम्बना।

चिदात्म तत्त्व के निरन्तर चिन्तन से उसका मन, वाणी, इन्द्रियाँ एवं शरीर भी चिन्मय हो जाते हैं। वह शरण्य और वरेण्य हो जाता है। उसके शरण में जो जाता है, वह उसकी रक्षा करने में समर्थ एवं गुरुरूप में वरण करने योग्य हो जाता है, इसी अवस्था का नाम सद्गुरु है, वह स्वयं कृत-कृत्य होकर विश्वकल्याण के लिए अपना शेष जीवन समर्पण कर देता है। इस ग्रन्थ के ३३-३४ श्लोक में इसका विशद वर्णन प्रस्तुत किया है। आनन्द सच्चित् सुखसागर में जिसका चित्त लीन हो जाता है, उसका कुल पवित्र हो जाता है, यह वसुधरा उससे पुण्यवती होती है। और वह मातृ ऋण से भी मुक्त हो जाता है। देव-पितृ-ऋषि आदि ऋणों से तो मुक्त होने के अन्यान्य उपाय हैं; परन्तु माता के ऋण से मुक्त होने का यह एक मात्र उपाय है। पुत्र आत्मज्ञानी हो जाता है, तो माता कृतार्थ हो जाती है।

(१२)

‘यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता’ जैसे एक मात्र वायुरहित स्थान में दीपक सुस्थिर रहता है, उसी तरह वह योगी अनवरत चैतन्य-आत्मा में ही परिनिष्ठित हो जाता है। पूर्णाहन्ता की स्थिति, सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व रूप ‘शिवोऽहं’ की भावना प्रस्फुरित हो जाती है।

देशिकवागुपदेशविनश्यत् देहमरुमयशून्यविकल्पः ।

अद्वयबोधविमर्शसुखः सन्नद्य शिवोऽस्मि शिवोऽस्मि शिवोऽस्मि ।

देशिकप्रवर गुरु के उपदेश से समस्त भेद विनष्ट होकर अद्वैत बोधा-मृत के पान से पूर्णानन्द स्वरूप ‘शिवोऽहम्’ की स्थिति को प्राप्त करके अनुत्तर तत्त्व का अधिकारी हो जाता है।

मायान्ततत्त्वे सदहं शिवोऽहं शक्त्यन्ततत्त्वे चिदहं शिवोऽहम् ।

शिवान्ततत्त्वे सुखदः शिवोऽहमतः परं पूर्णमनुत्तरोऽहम् ॥

अब उसमें दिव्य विभूतियों का स्वयं प्रादुर्भाव होता है। उनके प्रभाव से आचार्य शङ्कर आदि सिद्धों के अनुसार संसार को सन्मार्ग में प्रवृत्त करने का प्रयत्न करता है। इस अवस्था में सिद्धियों से कोई भय नहीं रहता, अपरिपक्व साधना में ही सिद्धियाँ बाधक होती हैं। इस अवस्था में तो जैसे महासमुद्र में तरङ्गों का स्वतः प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही पूर्णाहन्तारूप चिदानन्दघन अवस्था में चित् चमत्कार रूप सिद्धियाँ, विभूतियाँ स्वयं प्रकट होती हैं। इससे प्रभावित होकर जनमानस में साधना प्रवृत्ति जागृत होती है। वस्तुतः यही विश्वकल्याण है।

ये सब मान्त्रिक क्रियाकलाप हैं, इसलिए तान्त्रिक साधना को मन्त्रयोग कहा जाता है। मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर यह मन्त्र की त्रिपुटी है। प्रारम्भकाल में द्वैतभाव से वैखरी वाणी से उच्चरित होने से ‘मन्त्र’ कहा जाता है। द्वैताद्वैत भाव में मध्यमा वाणी में स्वयं उच्चरित होता है, तो ‘मन्त्रेश्वर’ संज्ञा हो जाती है। एवं सुषुम्ना विकास में ‘दृढ़ विमर्श’ समावेश में पश्यन्ती वाणी से शब्दतन्मात्रा के रूप में प्रस्फुरित मन्त्रमहेश्वर’ कहा जाता है। पुनः यही मन्त्र साधक को शिवत्व प्रदान करके शान्त निरञ्जन रूप साधक के चित्त के साथ निष्कल रूप में परिणत हो जाता है। अतः मन्त्र शिवधर्मी कहे जाते हैं। जैसा कि स्पन्दकारिका में कहा है—

(१३)

तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः ।

सह साधकचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः ॥

प्रारम्भिक साधनकाल से सिद्धावस्थापर्यन्त मान्त्रिक क्रिया का ही प्राधान्य है, एतदर्थं तन्त्रागम-साधना को मन्त्रयोग कहा जाता है, इसलिए ग्रन्थकार साम्ब ने इसे 'सागमब्रह्मचर्चा' कहा, अर्थात् आगमसम्बन्धी ब्रह्म 'चर्चा' विषय । इस प्रकार प्रतिपादन करके आगम से सम्बन्ध होने का निर्देश किया, अतः यह सम्बन्ध रूप अनुबन्ध का विवेचन हुआ । अब इसके विषय रूप अनुबन्ध पर आलोचना आवश्यक है—

विषय-शब्दब्रह्म से परब्रह्म—

'शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति' ।

निष्कल निर्गुण अप्रतर्क्य अनिर्देश्य मनोवाचामगोचर सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व की बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि मायिक स्थूल जड़ पदार्थों से उपलब्धि असम्भव है । अतः शब्दब्रह्म में निष्णात ही परब्रह्म को प्राप्त करता है ।

शब्दब्रह्म का स्वरूप—आगम शास्त्रों में शिव-तत्त्व ही परब्रह्म है और शक्ति तत्त्व शब्दब्रह्म है । शक्ति उपासना से शिवत्व प्राप्ति, शब्दब्रह्म से परब्रह्म की प्राप्ति है । 'प्रकाश-विमर्श', बिन्दु-नाद' आदि संज्ञाओं से तन्त्रान्तरों में इस विषय का विशद विवेचन किया गया है । विज्ञानभैरव में कहा है—

यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च ।

ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः श्रितः ॥

जैसे दीपक के प्रकाश और सूर्य की किरणों से दिशाओं के विभाग का ज्ञान होता है, उसी प्रकार शक्ति के द्वारा ही शिव की प्राप्ति होती है । महार्थमञ्जरीकार ने कहा कि—

वर्धतां महाप्रकाशो विमर्शविच्छुरितनिश्चलोद्योतः ।

संज्ञाविशेषनिर्णयमात्रप्रवृत्तानि यत्र शास्त्राणि ॥

(१४)

परिमल टीका में इस पद्य की विशद व्याख्या की गई है। इसका तात्पर्य है कि प्रकाश-विमर्श ही सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। इसकी संज्ञा विशेष निर्णय के लिए ही शास्त्रों की प्रवृत्ति है। इसी तरह विरूपाक्षपञ्चाशिका के प्रकाशात्मा और विमर्शात्मा स्कन्धों में प्रकाश-विमर्श का सोपपत्तिक विशद विवेचन किया है। दक्षिणामूर्तिस्तोत्र की मानसोल्लास-कारिका में सुरेश्वराचार्य कहते हैं—बिन्दु-नाद, शिव-शक्ति ही परमतत्त्व हैं—

बिन्दुनादौ शक्तिशिवौ शान्तातीतौ ततः परम् ।

षट्त्रिंशत्तत्त्वमित्युक्तं शैवागमविशारदैः ॥

प्रकाश, बिन्दु, शिव ये परब्रह्म के पर्याय हैं। निर्गुण निराकार ब्रह्म में 'सिसृक्षा' सृजन करने की इच्छा ही प्रकाश से विमर्श, बिन्दु से नाद, शिव से शक्ति का प्रादुर्भाव है। इसी को इच्छाशक्ति, चिच्छक्ति, महाशक्ति आदि नामों से प्रतिपादित किया है। जब शक्ति का वाणी रूप में विस्तार होता है, इसको शक्तिस्फार कहते हैं। सर्वप्रथम एक नादात्मक अनच्च हकार की उत्पत्ति होती है, यही सूक्ष्म शब्दब्रह्म है, इसी से परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाणियों का अकारादि क्षकारान्त वर्णमाला के रूप में प्राकट्य होता है। इसी से समस्त वाङ्मय, अनन्तकोटि शास्त्रों की रचना होती है। 'ज्ञानाधिष्ठानं मातृका' शिवसूत्र के अनुसार समस्त ज्ञान की अधिष्ठात्री 'मातृका' वर्णमाला ही है। (इसका विशद वर्णन 'स्वच्छन्दतन्त्र' के अनुसार 'त्रिपुरारणवतन्त्र' की भूमिका में किया गया है, वह द्रष्टव्य है।) इन्हीं मातृका के शब्दों से दृश्यमान समस्त प्रपञ्च का निर्माण होता है। तन्त्र-आगमों की दार्शनिक भूमि छत्तीस तत्त्वों पर आधारित है। 'षट्त्रिंशत्तत्त्वानि विश्वम्'। (प० क० सूत्र) इसका तात्त्विक विवेचन 'परात्रीशिका' में विस्तृत रूप में किया गया है। वर्णविकासक्रम और शिव से पृथ्वी पर्यन्त किस वर्ण से किस तत्त्व का आविर्भाव हुआ, यह पूर्णरूप से वर्णन करके शेष में कहा—

अमूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता ।

सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानाञ्च यशस्विनि ।

इयं योनिः समाख्याता सर्वतन्त्रेषु सर्वदा ॥ ८ ॥

(१५)

इसी प्रकार 'कामकलाविलास' की 'चिद्वल्ली' टीका में 'तन्त्रसङ्गाव' के वचन उद्धृत किये हैं—

सर्वे वर्णात्मिका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः शिवे ।

शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका ॥

या सा मातृका लोके परतेजःसमन्विता ।

तया व्याप्तमिदं सर्वमाब्रह्मभुवनात्मकम् ॥

मातृका के वर्णों से समस्त मन्त्रों का निर्माण होता है, वे शक्त्यात्मक हैं, मातृका ही शक्ति है और शक्ति शिवात्मिका है, अतः शिव-शक्ति तेज से समन्वित इस मातृका से ही आब्रह्मभुवनात्मक समस्त विश्व व्याप्त है ।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि शब्दराशि ही शक्ति है, इसे ही शब्दब्रह्म भी कहते हैं, अतः शब्दब्रह्मरूप शक्ति की उपासना से परब्रह्म रूप शिव की प्राप्ति होती है । प्रस्तुत ग्रन्थ का भी यही विषय है । इसके प्रथम श्लोक में मङ्गलाचरण में क्रोड़ीकृतसमस्तवाच्यवाचकात्मक सूक्ष्म शब्द-ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं—

“विद्यास्यन्दनमुन्नयन्निव नमस्तस्मै परब्रह्मणे” ।

द्वितीय श्लोक में महाप्रणव से परावाणी का उदय, तदनन्तर परा से पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाणियों की उद्गम सरणि का वर्णन करते हुए छठे पद्य में स्तुत्य चिदर्क का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि—

“न ब्रह्माण्डव्यवहितपदा नातिशीतोष्णरूपा” ।

अपने स्तुयमान सूर्य को बाह्य सूर्य से सर्वथा भिन्न प्रतिपादन किया है । समस्त विश्व में और विश्व के अनन्त प्राणियों में अन्तर, बाहर, मध्य सर्वत्र व्याप्त चैतन्य तत्त्व ही स्तुत्य चिदर्क है । 'चैतन्यमात्मा' इस शिवसूत्र के अनुसार पूर्णस्वतन्त्र-सर्वज्ञान-क्रियासम्पन्न चेतन तत्त्व ही आत्मा है । आत्मोपासना ही सर्वश्रेष्ठ है, जो आत्मदेवता को छोड़कर अन्य देवता की उपासना

(१६)

करते हैं, वे भिक्षा मांगकर बहुत धन प्राप्त कर लेने पर भी 'बुभुक्षित' भिक्षुक ही रहते हैं—

उत्सृत्य स्वयमात्मानं ये ध्यायन्त्यन्यदेवताः ।

भिक्षित्वा भूरिवित्तास्ते भिक्षित्वापि बुभुक्षिताः ॥ ('गीतानिष्यन्द')

इस प्रकार इस स्तोत्र के पचास पद्यों की अलङ्कारिक भाषा में रचना की गई है। प्रत्येक पद्य में चिदानन्दधन आत्मतत्त्व ही ओतप्रोत है। इनके गूढार्थों का ज्ञान तो उपासना में ही होता है। आगमोक्त उपासना से सरलता से महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ और तन्त्र साधना के परम आदर्श सिद्धान्तों का दिग्दर्शन होने से यह वरिष्ठ सिद्धान्तग्रन्थ कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं है। जैसा कि इसकी फलश्रुति में कहा है—

भक्तिश्रद्धाद्यखिलतरुणीवल्लभेनेदमुक्तं

श्रीसाम्बेन प्रकटगहनं स्तोत्रमध्यात्मगर्भम् ।

यः सावित्रं पठति नियतं स्मात्मवत् सर्वलोकान्

पश्यन् सोऽन्ते व्रजति शुकवन्मण्डलं चण्डरश्मेः ॥ ५२ ॥

भक्ति-श्रद्धा आदि में है जिनके, ऐसी तत्त्वार्थ चिन्तारूपी तरुणियों के वल्लभ अर्थात् तत्त्वार्थ चिन्ता जिनको क्षण भर भी नहीं छोड़ती, अखिल-तरुणीवल्लभ, इसके व्यतिरेकलभ्य अर्थ में भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के पुत्र श्रीसाम्ब ने अध्यात्मगर्भ प्रकट-गहन स्तोत्र की रचना की, जो व्यक्ति इस स्वात्म सविता स्तोत्र का नियमित पाठ करता हुआ समस्त विश्व को स्वात्मवत् देखता है, वह भगवान् व्यासदेव के पुत्र शुकदेव महामुनि की तरह द्वैत भाव को ग्रसन करने वाले चण्डरश्मि के मण्डल को प्राप्त करता है। अर्थात् समता योग में आरूढ़ होकर अद्वैत तत्त्व में परिनिष्ठित हो जाता है। तान्त्रिक साधना का परम लक्ष्य अद्वैत ज्ञान की प्राप्ति है। भगवान् आद्य शंकराचार्य ने अद्वैत मत की ही स्थापना की, और "यावद् व्यवहारो न विरमेत् तावद् अद्वैतं नैव सिद्धयेत्" को दृष्टिगत करके कराल कलिकाल में व्यवहार की निवृत्ति सुदुर्लभ है, अतः व्यवहार के रहते हुये ही अद्वैतसिद्धि हो जाय,

इसके लिये त्रैपुरसिद्धान्तसारसर्वस्व 'सौन्दर्यलहरी' स्तोत्र की रचना करके आगमोपासना का मार्ग प्रशस्त किया एवं अपने पाँच संन्यासी और नौ गृहस्थ शिष्यों से प्रचार-प्रसार करवा के दिव्य समयाचार सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया । इसका श्रीविद्यार्णव में विस्तृत वर्णन है ।

वर्तमान में तान्त्रिक साधना का बड़ा विकृत रूप हो गया है । सर्व-साधारण में तान्त्रिक शब्द का अर्थ झाड़-फूंक करने वाला, भूत-प्रेत भगाने वाला, मारण-मोहन करने वाला, पञ्च मकार सेवन करनेवाला कोई व्यक्ति है, विश्वकल्याण के लिये भूतभावन भगवान् विश्वनाथ द्वारा प्रणीत विज्ञानयुक्त तन्त्र-आगमशास्त्रों का ऐसा विकृत रूप देखकर किसका चित्त दुःखित नहीं होगा ? फिर भगवान् विश्वनाथ की नगरी समस्त विद्याओं की राजधानी काशी में निवास करने वाले व्यक्ति के लिये तो यह सर्वथा असह्य है । इसी दृष्टि से सर्वसाधारण को तन्त्रशास्त्रों के उच्च सिद्धान्तों का बोध हो, एतदर्थ पञ्चाशिका के पद्यों का संक्षिप्त हिन्दी-अनुवाद किया गया । इससे तन्त्र-आगम साधना में किञ्चित् भी आस्था हुई, तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा ।

म० म० गोपीनाथ कविराज महोदय के हृदय में तन्त्र-शास्त्रों के प्रति दृढ़निष्ठा और श्रद्धा थी । उन्होंने इसके लिये अप्रमेय प्रयास किया, उसी प्रयास की यह प्रस्तुति है । योगतन्त्र-ग्रन्थमाला के चार भागों में दुर्लभ तन्त्र-ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ, उसमें तन्त्रसंग्रह के प्रथम-भाग में सर्वप्रथम "विरूपाक्षपञ्चाशिका" और दूसरे स्थान पर "साम्बपञ्चाशिका" मुद्रित हुई, 'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय' के कुलपति श्रीविद्यानिवास जी मिश्र की प्रेरणा से इन दोनों ग्रन्थों पर कुछ लिखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ, यह मैं साम्ब सदाशिव भगवान् विश्वनाथ की अहैतुकी अनुकम्पा ही मानता हूँ । श्रीकुलपति जी अन्य कई तन्त्र-ग्रन्थ भी प्रकाशित किये हैं और अन्य प्रकाशनाधीन हैं, यह बड़े हर्ष का विषय है । वस्तुतः कविराज जी की भावना अब पल्लवित, कुसुमित हो रही है । इस कार्य में सहयोग देने वाले सभी

(१४)

व्यक्तियों का कल्याण हो, यही पराम्बा से प्रार्थना करता हूँ। विशेष कर प्रकाशनाधिकारी डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी एवं सरस्वतीभवन पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष डॉ० विजयनारायण मिश्र इस कार्य में तत्पर हैं, उनकी मङ्गलकामना करता हुआ श्रीसाम्ब के शब्दों से ही परिसमाप्ति करता हूँ—

दिशतु च शुभसिद्धिं मातृवद् भक्तिभाजाम् ।

वाराणसी
अक्षयतृतीया
२०४९ वैक्रमाब्द
(१९५१९९२ ख्रैस्ताब्द)

}

श्रीगुरुचरणसरोजरेणु
दत्तात्रेयानन्दनाथ
(सीताराम कविराज)

॥ श्रीः ॥

साम्बपञ्चाशिका के पद्यों का संक्षेपार्थ

परम्परा का परिपालन करते हुए ग्रन्थकार प्रथम श्लोक में स्तुत्य चिदर्क के अशेष वाच्य-वाचकात्मक सूक्ष्मशब्दब्रह्मस्वरूप का वर्णन रूप मङ्गलाचरण करते हैं—

शब्दार्थत्वविवर्तमानपरमज्योतीरुचो गोपतेः... ॥ १ ॥

विविध प्रकार के शब्द और उनके अर्थ के सम्बन्ध से विचित्र रूप से विद्यमान जो “परं ज्योति” विमर्श रूपी शाक्त स्पन्द की दीप्ति से देदीप्यमान ‘गोपति’ परा, पश्यन्ती आदि वाणी रूपी मरीचि चक्र के अधिपति चिदर्क सर्वप्रथम प्रथमोन्मेष में शब्दब्रह्मरूप प्रणव-ध्वनि के रूप में अरुण प्रभा से प्रभासित उदित हुए और ऋक्, यजु, साम रूपी वेदत्रयी मण्डल वाले अर्थात् समस्त आम्नाय वाक्यसमूह से व्याप्त, प्रस्फुरित वर्ण पद-क्रम से अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने वाले षड्ज आदि ध्वनि रूप सप्त अश्वों से परमाकाश रूप हृदय में ‘विद्यास्यन्दन’ समस्तविद्या, मन्त्रशास्त्रविज्ञान रूपी रथ का उन्नयन करते हुए, उस परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार करता हूँ। ज्योतीरुचः, गोपतेः, अभ्युदितः, अरुणतया, त्रयीमण्डलम्, सप्त-स्वराश्वैः, विद्यास्यन्दनम्, वियत् आदि श्लेष से, बाह्य सूर्यपरक अर्थ भी सम्भव है ॥ १ ॥

प्रथम श्लोक में सामान्य व्याप्ति से परम अर्क की स्तुति करके अब देह में मध्यनाडी सुषुम्ना में व्याप्त परावाणी रूप चिदर्क का स्तवन करते हैं—

ओमित्यन्तर्नदति नियतं ... ॥ २ ॥

अशेष शब्द और नादरूप महाप्रणव समस्त प्राणियों में निरन्तर परावाणी के रूप में निनादित होता है। उस शब्दब्रह्म रूपी परावाणी से अकारादि क्षकारान्त शब्दतन्मात्रा से गर्भित पश्यन्ती वाणी का उदय होता है। प्राण और अपान “सूर्य-चन्द्र स्वर” समान प्रवाहित होते हैं, अर्थात् एक दूसरे को आत्मसात् करके समान भूमिकारूढ़ हो जाते हैं, ऐसे देह में

(१)

मध्यनाड़ी "ब्रह्मनाड़ी" सुषुम्ना में स्थित 'आद्य' विश्वचित्रभित्तिरूप उस परम आदित्य का अभिवादन करता हूँ ॥ २ ॥

इस प्रकार महाव्याप्ति और सूक्ष्म व्याप्ति से अनवच्छिन्न मध्यमधाम में विराजमान चिदर्क का स्तवन करके प्रपञ्च में व्याप्त मार्तण्ड का स्तवन करते हैं—

यस्त्वक्चक्षुश्रवणरसना ॥ ३ ॥

त्वक्, चक्षु, कर्ण, जिह्वा, नासिका, इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों में हस्त, पाद, वाणी, पायु, उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों में मन, बुद्धि अहङ्कार रूप इन तीन अन्तःकरण में, अन्तर-बाह्यरूप में व्याप्त होकर शवप्राय समस्त ब्रह्माण्डों को एवं देह, प्राण आदि पिण्डों को चैतन्य प्रदान करके समस्त विश्व को जीवन प्रदान करने वाले सकल करणों के आधारभूत द्वादशात्मा मार्तण्ड की सर्वतोभावेन शरणागति ग्रहण करता हूँ ॥ ३ ॥

सकल प्रपञ्च में व्याप्त समस्त इन्द्रियों के आधारभूत चिदर्क का स्तवन करके परमार्थ रूप में प्रकाश की विमर्श रूप प्रसारसरणि, वाणी का स्तवन करते हैं—

या सा मित्रावरुणसदनाद् ॥ ४ ॥

सूर्य (अग्नि) सोम का स्थान मूलाधार से प्राणसङ्ग (वायुसंग) से ऊर्ध्व प्रसरण करती हुई, अन्तर में स्फुट रूप में त्रिषष्टि (६३) वर्णों का सर्व इन्द्रियों से उच्चार (विमर्श) करती हुई परा वाणी से पश्यन्ती वाणी शब्द-तन्मात्रा रूप में नाभि में उदित हुई । तदनन्तर प्राणवृत्ति का अतिक्रमण करके बुद्धिसंस्थान (ज्ञानस्वरूपा) मध्यमा वाणी मध्यमधाम हृदय में अर्धमात्रा रूप में उदित हुई, तदनन्तर मुख से जिह्वा के मूल और मध्य से प्रकट वर्ण रूप में वैखरी वाणी उदित हुई । उस चिदर्क का प्रपन्न होकर अभिवादन करता हूँ ।

६३ वर्ण—(२२) स्वर, (२५) व्यञ्जन, (४) यवर्ग शवर्ग, (४) यम, (४) अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपधमानीय, इस प्रकार ६३ वर्ण होते हैं ।

“त्रिषष्टिश्चतुष्षष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः” ।

(३)

तात्पर्य—यहाँ परावाणी ही चिदकं नाम से वर्णित है। अग्नि, सोम का स्थान मूलाधार परा वाणी का स्थान है। परा वाणी से नाभि, हृदय और मुख में पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाणियों का उदय होता है ॥४॥

वाणी की प्रसार-सरणिरूप चिदकं का स्तवन करके ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना का वर्णन करते हैं—

ऊर्ध्वाधःस्थान्यतनुभुवना ... ॥ ५ ॥

जिस परमादित्य मूर्ति के ऊर्ध्वभाग, अधोभाग और मध्य में विशाल भुवन और भुवनाधिपति निवास करते हैं। जैसे—देह में ऊर्ध्वभाग में भू आदि सप्त लोक और अधोभाग में पातालादि सप्त लोक हैं, और उनके अधिदेवता हैं, जो चक्षु आदि इन्द्रियों में और रोमरन्ध्रों में जानेवाली ७२ हजार नाड़ियों को प्रस्फुरित करते हैं। अतः वह सर्वसाधारण के अगम्य है। स्थावर सृष्टि से देवयोन तक समस्त विश्व के प्राणियों के देह में विद्यमान है। वह आदित्य मूर्ति जो आराधक प्राणापान का निरोध करके शाक्त समावेश में निरत है, उन्हीं के द्वारा प्राप्तव्य है। ऐसी ब्रह्मनाड़ीस्वरूपा आदित्य की दिव्य मूर्ति प्रसन्न हो। अर्थात् देहाहं भाव को शमन करके चिदानन्दघन स्वरूप में प्रस्फुरित हो।

तात्पर्य—यह सुषुम्ना नाड़ी का वर्णन है। “यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे” के सिद्धान्तानुसार चराचरात्मक समस्त विश्व में और विश्व के समस्त प्राणियों के भीतर-बाह्य मध्य में विद्यमान रहती है। शाक्त समावेश में जब प्राणापान का निरोध हो जाता है, तब स्पन्दरूप में साधक को इसका अनुभव होता है। इसी सुषुम्ना नाड़ी को आदित्यमूर्ति और ब्रह्मनाड़ी के रूप में प्रतिपादित किया गया है ॥५॥

अब उस परम आदित्यमूर्ति के स्वरूप का वर्णन करते हुए प्रार्थना करते हैं—

न ब्रह्माण्डव्यवहितपथा ... ॥ ६ ॥

वह परमादित्यमूर्ति न तो अति शीत है सोमवत्, और न अति उष्ण है अग्निवत्; किन्तु द्वैतभाव के दाह से अद्वैत आनन्द का स्पन्दन करने वाली समरसीभूत अग्निसोमस्वरूपिणी है, और बाह्य सूर्य की तरह दिन-रात भ्रमण करने वाली नहीं, महाप्रतापवती है, वैकुण्ठस्थित महाविष्णु की तरह

(४)

परम आह्लाद प्रदान करने वाली, हृदय (बिन्दु) मण्डल में विराजमान वह परम उज्ज्वल आदित्य मूर्ति प्रसन्न हो, अर्थात् हमें इन्द्रिय, मन प्राण आदि के मायिक कालुष्य से रहित करें।

इसका तात्पर्य यह है कि बाह्य सूर्य की तरह इसका ब्रह्माण्ड में मार्ग अवरुद्ध नहीं है और शिशिर, ग्रीष्म आदि ऋतुओं में अतिशीत और अति उष्ण नहीं है। दिन-रात भ्रमण से सूर्य-चन्द्रादि देवों की जो इयत्ता है, उससे अपरिच्छिन्न है। महाप्रतापशालिनी है, 'तापनीया' है, अर्थात् राहु द्वारा आक्रान्त रविमण्डल की तरह नहीं है, परम शोभा से सुशोभित हृदयमण्डल में विराजमान है। अर्थात् वह चिदर्क सब प्रकार से बाह्य सूर्य से भिन्न है। 'सा नः स्वेता भवतु' इसका तात्पर्य है कि किञ्चित् मात्र भी रजोगुण से रहित परम शुभ्र शुद्ध सत्त्वस्वरूपा हो। अर्थात् शाम्भवावेश प्रदान करे ॥६॥

अब एक साथ बाहर और भीतर में विद्यमान चिदर्क का स्तवन करते हैं—
यत्रारूढं त्रिगुणवपुषि ॥ ७ ॥

प्रणव रूप जिस चिदर्क में सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाले सत्त्व, रज, तम गुणों से युक्त ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, अकार, उकार, मकार रूप, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तीन वर्ण 'त्रिगुण वपु', प्रणव में वेद्य-वेदकात्मक जो बिन्दु है, वह उन्म-नान्त अप्रमेय परिपाटी रूप बृहत् शाक्ततेज, जिसमें उत्कृष्ट रूप से व्यवस्थित है, वह उत्कृष्ट तेज परतत्त्व-अन्वेषणपरायण महायोगियों के जीवन्मुक्ति मार्ग में परम उपाय रूप से प्रस्फुरित होता है। वह ऋक्, यजु, साम वेदत्रयी का आधारभूत है। जो 'प्रणव' उत्कृष्ट रूप से विमर्श करने से परात् पर परमेश्वर ही है, वही जिसका मण्डल (बिन्दु) है, उस चण्डरश्मि दीप्तांशुमाली का जो "अन्तः" चिद्गगन में प्रथम उन्मेष अतिसूक्ष्म रूप "योगीन्द्रों द्वारा ही लभ्य" बाहर में 'बृहत्', अर्थात् महापरिमाण^२ है। शाम्भव समावेश के द्वारा जीवन्मुक्ति के लिये उसके प्रपन्न होकर उस महा-प्रणवरूप परब्रह्म को नमस्कार करता हूँ।

१. प्रकर्षेण उत्कृष्टतया विमृश्यते परं पारमेश्वरं स्वरूपं येनेति "प्रणवः"।

२. नवयोजनसाहस्रो विग्रहोऽर्कस्य मण्डलम्।

(५)

सारार्थ—यह शब्दब्रह्म स्वरूप महाप्रणव का वर्णन है, जिस महाप्रणव के बिन्दु में समस्त विश्व निहित है और वह महाप्रणव रूप में प्राणियों में भी है ॥ ७ ॥

अब चिद्भानु के मण्डलस्थ अर्थात् मध्यमधाम सुषम्नान्तर्गत सोम का स्तवन करते हैं—

यस्मिन् सोमः सुरपितृनरैः .. ॥ ४ ॥

जिस चिदर्क के सोम का देव-पितर-नरों द्वारा प्रतिदिन उपभोग करने पर क्षीण होकर उस चिदर्क में प्रवेश से जो पुनः वर्धमान होता है और जिसके अग्रभाग में संलग्न वेदादि समस्त शास्त्र, मधुच्छत्र में संलग्न मधुकरी मक्षिकाओं के समान सुशोभित हो रहे हैं, उस चण्डांशु चिदर्क के मण्डल के अन्तर्गत 'मध्यमधामस्थित' जो अमित अमृत है, उसका आश्रयण करता हूँ ।

जैसे बाह्य सोम भी कृष्णपक्ष में देव-पितृ-नरों द्वारा कलारूप से उपभुक्त 'क्षीण' होने पर अमावास्या को सूर्यमण्डल में प्रवेश करके पुनः वृद्धि को प्राप्त होता है । तात्पर्य है कि मध्यमधाम ज्ञान का संस्थान है, उसी से सुर, नर सभी ज्ञान का पान करते हैं; परन्तु उस चिदर्क के सम्पर्क से मध्यमधाम का ज्ञानभण्डार परिपूर्ण रहता है ॥ ४ ॥

शुद्ध सत्त्वस्वरूप विश्व को आलोकित करने वाले ऊर्ध्वरश्मि रवि का स्तवन करते हैं --

ऐन्द्रीमाशां पृथुक्वपुषा .. ॥ ९ ॥

"प्रथमोन्मेष अवस्था", योगिगम्य सूक्ष्म शाक्त-स्पन्द रूप से प्राणादि के संकोच को चिन्मय करके, स्वात्मांश से शिव, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्र-महेश्वर, विज्ञानाकल, प्रलयाकल, सकल, इन सात अवस्थाओं को स्वज्योतिर्मय रूप प्रदान करके अनात्म वस्तुओं में आत्मरूप अज्ञान को निःशेष रूप से प्रशमित करके सम्पूर्ण विश्व को आलोकित करने वाले ऊर्ध्वरश्मि शुद्धसत्त्व स्वरूप चिदानन्द रवि की जय हो ।

जैसे बाह्य सूर्यदेव प्रातः उदयकाल में सप्ताश्व रथ पर आरूढ़ होकर प्राची दिशा को अपने प्रकाश से प्रपूरित करके अपनी मरीचियों से भू आदि सात लोकों को प्रकाशित करते हैं और श्रीनारायण हरि भगवान् अपने वामन देह से सप्तलोकों को एवं दिशाओं को आक्रान्त करके दानवेन्द्र बलि

(६)

के समस्त दानव कुल को पाताल में विलय करने वाले, समस्त विश्व को आलोकित करने वाले उर्ध्वरश्मि सत्त्वस्वरूप हैं, उन भगवान् की जय हो। यहाँ श्लेषालङ्कार, श्लेषोपमा ध्वनि की संसृष्टि है ॥ ९ ॥

अब गायत्री मन्त्र के सवितादेव के भर्गरूपी सर्वोत्कृष्ट शाक्तधाम चिदर्क तेज का स्तवन करते हैं—

ध्यात्वा ब्रह्म प्रथमम् ॥ १० ॥

बिन्दुरूप परप्रकाशात्मक ब्रह्म का ध्यान करके पुनः प्राणमूल में विमर्शात्मक नादानुसन्धान करके उसी प्रणव से मुखरित व्याहृतियों के जपपूर्वक समस्त वेदों में प्रजापति द्वारा प्रोक्त अनुग्रहकारी सविता, जो बाह्य सूर्य, सोम, अग्नि आदि समस्त तेजों का पुञ्जीभूत धाम परिस्फुरतात्मक शाक्त तेज है, उनके सर्वतोभावेन प्रपन्न हूँ।

शाक्त-समावेश से समासादित शाम्भव-समावेश के अनन्तर व्युत्थान-दशा में भी अभेद परामर्श रस का आस्वादन निरन्तर बना रहे। शिव-सूत्रानुसार “कथा जपः” सूत्र में प्रोक्त तत्त्व का निरन्तर स्मरण करता हूँ।

गायत्री मन्त्र में जो सवितादेव के तेज का वर्णन है और उसके दीर्घ-काल तक जप से जो सिद्धि होती है, वह शाक्त-समावेश में स्वल्पकाल में ही सम्पन्न हो जाती है। यह गायत्री मन्त्र के जपतत्त्व का वर्णन है ॥१०॥

स्तुतिरूप द्वैतप्रथात्मक अविद्या के द्वारा अद्वैत प्रथारूप विद्या की प्राप्ति का उपाय—

त्वां स्तोष्यामि स्तुतिभिः ॥ ११ ॥

हे भगवन् ! मैं तुम्हारी स्तुति करता हूँ, यह भेदग्रह है, अर्थात् अद्वैतचित् में स्तोता, स्तुत्य, स्तुति, यह त्रिविध कल्पना ही अविद्या है। परञ्च अविद्या के विनाश के लिये निरन्तर तत्पर होकर मैं स्तवन करता हूँ; क्योंकि आप एक ही ‘स्थूल’ बाह्यसूर्य ‘सूक्ष्म’ मध्यनाड़ीरूप स्पन्द, ‘पररूप’ अनवच्छिन्न चिदानन्द इन त्रिविध रूप में उदित होते हैं। तत्त्वदर्शी विद्वानों ने विद्याप्राप्ति का उपाय अविद्या ही कहा है—

“अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते” ॥११॥

इस प्रकार स्तुतिरूप भेदग्रह का निराकरण करके स्थूल सूक्ष्मरूप में उदित चिदर्क का स्तवन करते हैं—

(७)

योऽनाद्यन्तोऽप्यतनुः..... ॥ १२ ॥

हे भगवन् ! आप अनादि, अनन्त हैं, देश-कालादिकों से अपरिच्छिन्न हैं, निराकार, निर्गुण हैं। आप योगियों के ध्यानगम्य सूक्ष्मरूप हैं और सूक्ष्माति-सूक्ष्म परमाणु से भी अतिसूक्ष्म स्वप्रकाश हैं और आप विभु हैं, सर्वत्र व्यापक हैं, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के रूप में आप विश्वाकार हैं। सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्वादि गुण होने से सगुण भी हैं। इस प्रकार भक्तगण नाना कल्पनाओं से आपके पृथक्-पृथक् अङ्ग अवयवों की कल्पना करते हैं, वस्तुतः आप वाणी से अप्रति-पाद्य हैं। नाना प्रकार के स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणियों के बीज रूप प्रकृति, देहादिरूप विकृति में भासित होने वाले, उन उन समस्त रूपों को हे परमा-दित्य, निरन्तर नमस्कार करता हूँ ॥१२॥

पश्यन्ती आदि वाणियों के स्रोतस्वरूप संवित् तत्त्व के लिये नमःशब्द मात्र ही स्तुति सम्भव है—

तत्त्वाख्याने त्वायि मुनिजनाः..... ॥ १३ ॥

मुनिजन आपके विषय में तत्त्व का व्याख्यान करते हुए नेति-नेति ही कहते हुए श्रान्त हो जाते हैं। आप न अणु, न महान्, न ल्हस्व, न दीर्घ हैं, और आप ऐसे हैं, या इसके समान हैं, ऐसा समीचीन प्रतिपादन करने में असमर्थ हैं; क्योंकि संवित्प्रधान वाणी आपसे ही स्रवित होती है। अतः वाणी के जनक का वाणी द्वारा स्तवन क्या उचित है? अतः आपकी स्तुति के लिये केवल 'नमः' शब्द ही प्रयुक्त कर सकता हूँ, 'क्षीरोदधेः कमण्डलु-जलेन सपर्यावत्' ॥१३॥

अब समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा रूप में स्थित ज्योतिर्मय परमादित्य का स्तवन करते हैं—

सर्वाङ्गीणः सकलवपुषामन्तरे..... ॥ १४ ॥

स्थावर सृष्टि से देवयोनिपर्यन्त समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में सर्वा-ङ्गीण रूप से विद्यमान परमानन्द रूप अन्तरात्मा, योगशून्य व्यक्ति को दृश्य नहीं होती है। जैसे काष्ठ में विद्यमान अग्नि अरणिमन्थन की क्रिया न जानने वाले के लिये अदृश्य रहती है। जो योगीजन नियमित रूप से प्राण-अपान रूपी अरणी का मन्थन करते हैं, उन पुरुषों को स्वप्रकाश चिद्रूप ज्योति दृश्य होती है।

(४)

यहाँ प्राण और अपान वायु अरणिरूप है और योगी का प्रयत्न काष्ठ-रूप है। यह गुरुगम्य प्रक्रिया है—

ऊर्ध्वशक्तिनिपाताच्च अधःशक्तिनिकुञ्चनात् ।

रुद्रशक्तिसमावेशं यो जानाति स पण्डितः ॥१४॥

कर्त्ता, कर्म, क्रियारूप से विद्यमान चिन्मरीचिमाली से अभेद होना ही स्तवन है—

स्तोता स्तुत्यः स्तुतिरिति ॥ १५ ॥

स्तोता, स्तुत्य, स्तुति, यह तीन रूप में आप ही एकमात्र विद्यमान हैं; क्योंकि कर्त्ता, कर्म, क्रिया रूप में आप क्रीड़ा करते हैं। अतः मैं सङ्कोच-प्रधान मितप्रमाता हूँ, इसलिये आपकी स्तुति करने में असमर्थ हूँ। अतः चिदात्मारूप में स्थित आपका ही स्तवन करता हूँ। हे चिन्मरीचिमाली ! मैं कोई अन्य नहीं हूँ, जो कुछ भी हूँ तुम्हारा आत्मीय हूँ। अतः प्रणय से सुन्दर प्रार्थना रूप में जो कुछ कहता हूँ, वह तथ्य है; क्योंकि चिदात्मा से व्यतिरिक्त जगत् में कुछ है ही नहीं और यदि कोई दूसरी कल्पना करते हैं, वह मिथ्या है; क्योंकि चिदात्मा के विना चेतना का संचार ही नहीं होता है। अतः चेतना के विना संकल्प-विकल्प आदि आकाश-कुसुम के समान हैं। सार यह है कि उस चिदात्मा से अभेद होना ही स्तुति है ॥१५॥

शाक्त समावेश रूपी भक्ति प्राप्ति के लिये स्तवन करते हैं—

ज्ञानं नान्तःकरणरहितं ॥ १६ ॥

पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, इन इन्द्रिय ज्ञान वाले हमारे जैसे व्यक्तियों के लिये आप अचिन्त्य हैं; क्योंकि आप समस्त इन्द्रियों के अगोचर हैं। समस्त इन्द्रियाँ मायिक हैं, आप चित् स्वरूप हैं। अतः ध्यानगम्य नहीं होते, इस कारण आप भक्तियोग से ही उपलब्ध हैं। इसलिये शाक्त समावेश रूपी भक्तिमुधा-प्राप्ति के लिये आपका सर्वात्मना शरण ग्रहण करता हूँ।

यह शाक्त समावेश रूपी भक्ति क्या है ? इसका वर्णन “विज्ञानभैरव” में किया है।

भक्ति के उद्रेक से विरक्त हुए मनुष्य की जो अवस्था होती है, वह शाङ्करी शक्ति मध्यमधामप्रवेश है, उसकी निरन्तर भावना करने वाला शिवत्व भाव को प्राप्त हो जाता है—

(९)

भक्त्युद्रेकाद्विरक्तस्य यादृशी जायते दशा ।

सा शक्तिः शाङ्करी नित्यं भावयेत्तां ततो शिवः ॥१६॥

मध्यम-धाम-प्रवेश रूप भक्ति प्राप्त होने पर अनुक्रम से जिन भूमिकाओं की प्राप्ति होती है, उनका वर्णन करते हैं—

हादं हन्ति प्रथममुदिता ॥ १७ ॥

आपके जो समाश्रित हैं, निरन्तर चित्ति शक्ति के चिन्तन में तत्पर हैं, उनके सर्वप्रथम हृदय में जो अन्धकार भेदरूपी आणवमल स्थूल शरीर में है, उसका विनाश करती है। तदनन्तर प्रकाश के उद्रेक से कर्मयोग स्वात्मदेवता के पूजन निमित्त शारीरिक कर्मानुष्ठान से अन्तःकरण-स्थित मायिकमल का अपनोदन करके कर्मफल रूपी रजोगुण का विनाश करती हुई अन्तर्यामि की अवस्था उत्पन्न कर देती है और सम्यक् प्रकार से निरन्तर शाक्त समावेश का अभ्यास करने पर अभेदप्रथात्मक शुद्ध सत्त्व प्रकाशघन शिवोऽहं की स्थिति को उत्पन्न कर देती है। और जिनके रागद्वेषादि शान्त हो गये हैं, उनको जीवन्मुक्ति प्रदान करती है। जैसे फलाभिसन्धिरहित वेदानुष्ठान से मुक्ति प्राप्त होती है ॥१७॥

उस भक्ति के समाश्रयण से विविध विभूतियों की प्राप्ति का वर्णन—

तामासाद्य भियमिव गृहे..... ॥ १८ ॥

सम्प्राप्त शाक्त समावेश रूपी भक्ति, शून्य घर में सौभाग्यलक्ष्मी, रिक्त-बन्धुप्रदेश प्रवास में कामधेनु, चिन्तन मात्र से अभीष्ट फल देने वाली, अज्ञानरूपी अन्धकार में प्रकाशस्वरूपा, गहन वन-पर्वतादिकों में धैर्यस्वरूपा, भयङ्कर विषयरूपी ग्राहवाले संसार-समुद्र में नौका रूपी और बाह्य अर्क की तरह शिशिर, ग्रीष्म ऋतुओं के प्रभाव से शीतोष्ण नहीं है। ऐसे परम अमृतरूपी शाक्तधाम का समाश्रयण करता हूँ ॥१८॥

समष्टि-व्यष्टि जगत् के हेतु अग्नि-सोम 'प्राण-अपान' की समतारूप कुम्भक प्राणायाम से समतायोग की प्राप्ति का वर्णन—

अग्नीषोमावखिलजगतः..... ॥ १९ ॥

हे भगवान् ! आप समस्त विश्व के कारण अग्नि और सोम हैं, सृष्टिकाल में द्वादश कलात्मक अग्नितत्त्व "सूर्य" और षोडश कलात्मक सोम की मरी-

(१०)

चियों से विश्व का सृजन करते हैं। जो आपके अनन्य भक्त हैं। वे प्राण और अपान को कुम्भक प्राणायाम से सम करके आत्मवृद्धि, 'उदान वायु' में विलीन करते हैं। उनके भेदरूप आणव, मायिक, कार्मण, तीनों मलों को दग्ध करके अद्वैतरूप शिवत्व की प्राप्ति के लिये एक साथ मरीचियों से विश्वात्मक व्यानवायु में समावेश से स्वात्मरूप सम्पादन करते हैं। अर्थात् भेदभाव का उन्मूलन करके रागद्वेषरहित समता-योग प्रदान करते हैं।

“अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेष्वपानं तथापरे।

प्राणापानगतीं रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ (गीता - ४।२९)

इसमें प्राणवायु में अपान की 'समानता', समान वायु का संकेत है और उनका उदान में विलय, पुनः सबका व्यान वायु में विलय इस प्रकार पाँचों वायु की एकता से समता भाव प्राप्त होकर जीवन्मुक्ति का वर्णन किया गया है ॥१९॥

अनादि, अनन्त, सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-अभावरहित चिदर्क को प्रणय निवेदन करते हैं—

स्थूलत्वं ते प्रकृतिगहनं ॥ २० ॥

हे चिदर्क ! आपका अनन्त विश्वरूपी स्थूलाकार है। वह प्रकृति से ही गहन है, इसलिये अलक्ष्य है और दिक्, काल, आकारादि से अनवच्छिन्न होने से अनन्त है और सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से भाव और अभाव से प्रतीति-रहित है, अतः आप अचिन्त्य हैं, अनादि और अनन्त होने से अविदित हैं। इस कारण आपका मैं अन्तःकरण में कैसे ध्यान कर सकता हूँ ? कथमपि यह सम्भव नहीं है। अतः मैं प्रणय से निवेदन करता हूँ कि आप स्वात्मतया प्रसन्न हों, अर्थात् देहादि में जो प्रमातृ भाव का कालुष्य है, उसे दूर करें। स्वात्मरूप में स्फुरित होवें ॥२०॥

उस अनादि-अनन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोवाचामगोचर तत्त्व का शब्द-ब्रह्म के रूप में वर्णन करते हैं।

यत्तद्वेद्यं किमपि परमं ॥ २१ ॥

हे भगवान् ! जो आप असामान्य तत्त्व हैं, वे आप अनवच्छिन्न प्रकाशात्मक पद में शब्दब्रह्म के रूप में विदित होते हैं। स्वच्छन्द तन्त्र के अनुसार समस्त शास्त्र शब्दात्मक हैं और शब्द ही हंस कहा गया है—

“शास्त्रं शब्दात्मकं सर्वं शब्दो हंसः प्रकीर्तितः” ॥

(११)

अनाहतचक्र “हृदय” में नादरूप से सुप्रकट रूप से स्फुरित होते हैं। यह परब्रह्म का शक्तिमान् स्वरूप व्यक्त रूप धारण करता है, तो सुषुम्ना धाम में अकार, उकार, मकार की मात्रा कला का “विमर्श-शक्ति” का शनैः शनैः रूप धारण करता है। श्रीमद्भागवत में इसका वर्णन है।

यह अनिर्देश्य ब्रह्म मूलाधार स्थित परावाणी के रूप में अव्यक्त रहता है। पुनः प्राणवायु के सम्पर्क से मनोमय सूक्ष्म रूप से मात्रा, स्वर, वर्ण के रूप में सुषुम्ना मार्ग से क्रम से पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी रूप से प्रकट होता है। यही उस अनिर्देश्य ब्रह्म का प्रकट रूप शब्दब्रह्म है।

“स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।

मनोमयं रूपमुपेत्य सूक्ष्मं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्टः ॥ (श्री० भा०)

वह अव्यक्त प्रणव रूप ब्रह्म बिन्दु और नाद से उदित होता है, जिसमें वाच्य, वाचक आदि समस्त वेदादि वाङ्मय निहित हैं। वह शब्दब्रह्म स्वयं निरन्तर उच्चारित होता है, जिसका कोई उच्चारण करने वाला नहीं है, तब वह कैसे उच्चारित होता है, उसके लिये आगमोक्त प्रक्रिया बताते हैं। स्वच्छन्दतन्त्र में कहा है—दिव्य इन्द्रिय द्वारा उस तत्त्व का उच्चाण किया जाता है।

“दिव्यन्तु करणं कृत्वा तत्त्वस्योच्चारणं चरेत्।”

यह जिह्वामूल, मध्य आदि से दिव्यकरण होता है। इसका विस्तृत विवरण स्वच्छन्दतन्त्र में द्रष्टव्य है, विस्तरभय से यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

तात्पर्य यह है कि वह परब्रह्म शब्दब्रह्म के रूप में प्रकट होता है। उस शब्दब्रह्मरूप मन्त्र की उपासना से परब्रह्म की प्राप्ति होती है—

“शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति” ॥२१॥

अब त्रिकाल सन्ध्या में वेदत्रयीरूप आकृति वाले चिदर्क का दिवस रूप में वर्णन करते हैं—

प्रातःसन्ध्यारुणकिरणभाग् ॥२२॥

हे चिदर्क ! आप समस्त प्राणियों के प्राणरूप दिन हैं। आपका जो हृदय में प्रथम उन्मेष है, वह प्रातःकाल है। उसमें गुणीभूत प्राण और अपान की वृत्ति, शिव-शक्ति का सामरस्य रूप ही प्रातःसन्ध्या है। उसकी अरुण किरण

(१२)

की विचित्र दीप्ति से चक्षु आदि इन्द्रियों को प्रकाशित करते हैं। अतः परम सुशोभित है, ऋग्वेदमय है और मध्याह्न है, वह मध्य धाम है, वह यजुर्वेद स्वरूप चिददेवता की पूजारूप क्रियाशक्ति प्रधान है और द्वैतरूप इन्धन के जलने से जाज्वल्यमान है। आनन्दात्मक सोम की व्याप्ति से शुक्लवर्ण है। प्रकाशमान होने से सात्त्विक है। सायंकाल अस्तमित किरण अर्थात् प्रशान्त उज्ज्वल मरीचियों का समूह तमोगुण की विश्रान्ति से आनन्दोल्लासरूप एकरस होने से सामवेदरूप है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म पर इस त्रिविध रूप को धारण की हुई और सृष्टि, स्थिति, संहार, तुर्य, शक्ति से विजृम्भित आपकी आकृति वेदत्रयीस्वरूप है।

अर्थात् प्रातःकाल सूर्यदेवता की स्तुतिप्रधान ऋग्वेद की व्याप्ति, मध्याह्न-कर्मानुष्ठानरूप यजुर्वेद का उदय, सायं विश्रान्ति हेतु संगीत-प्रधान सामवेद की प्रधानता, इस प्रकार प्रतिदिन की स्थिति है ॥२२॥

नानाविध विश्वप्रपञ्च जिस तत्त्व में ऐक्य हो जाते हैं, उस चिदर्क का स्तवन करते हैं—

ये पातालोदधिमुनिनगद्वीप ॥ २३ ॥

अतलादि सप्त पाताल, क्षीरादि सप्त समुद्र, अत्रि आदि सप्त मुनि, महेन्द्रादि सप्त पर्वत, जम्बू आदि सप्त द्वीप, भू आदि सप्त लोक, मोह आदि सप्त आधि^१, यवादि सप्त बीज, गायत्री आदि सप्त छन्द, इस सप्त संख्या को प्राप्त हुआ यह विश्वप्रपञ्च, षड्ज आदि सप्त स्वर मुख में हैं और उन्हीं अर्थों का निनाद कर रहे हैं, मनोबुद्धि-ज्ञानेन्द्रिय रूप जिनके सप्त अश्व हैं, ऐसे आप चिदर्क के ही ये समस्त प्रपन्न हैं। और अवयवरहित वाणी पश्यन्ती की तन्मात्रा में ऐसे एक अश्व पर आरुढ़ आपको जानकर जो प्रपन्न हैं, ये दोनों ही आप जो अनश्व चिदर्करूप ब्रह्म हैं, उसी में एकता को प्राप्त होते हैं। आप षड्ज आदि सप्त स्वर, सत्त्वादि गुण, अकारादि कलाओं से रहित निरुपाधिक परप्रकाशानन्दधन स्वरूप हैं।

यहाँ साश्व उपासना से अनश्व तत्त्व की प्राप्ति का वर्णन, यह विरोधाभास है ॥२३॥

१. मोहो मदश्च गर्वश्च विषादः क्रोध एव च ।

भयं च हर्षणं चैव देहे सप्ताधयः स्मृताः ॥

(१३)

अब प्राणरूप, अन्न, अन्नद, अन्नादरूप चिदर्क का स्तवन करते हैं—

दिव्यं ज्योतिः सलिलपवनैः..... ॥२४॥

हे प्राणेश्वर सूर्य ! ज्योति-सलिल-पवन रूप शाक्तामृत प्राणवायु से जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं को आप्यायित करके उन तीनों अवस्थाओं में एकीभूत सामरस्य प्राप्त तुर्यान्न्दघनरूपी सार को दिव्य मरीचि-रूपी भावना से पुनः पुनः चित्चमत्कार का आस्वादन करके अन्तर्मुख रूप परा भूमि में प्रवेश करते हैं। उस परा भूमि में स्थित ज्ञानरूपी अन्न को उत्पन्न करते हैं, शिवसूत्र में कहा है “ज्ञानमन्नम्” परा भूमि में स्थित सिद्धों का ज्ञान ही अदनीय है और वहाँ पर ज्ञान अन्न के रूप में स्फुरित होता है। अतः प्राणापान के संचालक अन्नरूप आप ही हैं और प्राणों का भरण करने वाले अन्नाद, आत्मा भी आप ही हैं, इसमें अन्य वस्तु किञ्चिद् मात्र भी नहीं है। जैसे बाह्य सूर्य ज्योति-सलिल-पवन से विसर्ग काल में समस्त विश्व को रस प्रदान करके आदानकाल ग्रीष्म ऋतु में अपनी रश्मियों से सार ग्रहण करके भूमि-सन्ताप रूप से अन्तर्लीन होकर अन्न, ओषधि के रूप में उत्पन्न होते हैं, उस अन्न से प्राणों का पोषण होता है। अतः सूर्य “प्राण-भृत्” आत्मा कहा जाता है और यह सूर्य अन्न^१, अन्नद और अन्नाद रूप से प्रकीर्तित होता है ॥२४॥

प्राण-अपान वायु “सूर्य-चन्द्र स्वर” का ग्रसन करके ब्रह्मनाडी सुषुम्ना में स्थितिवाला योगी निर्गुण ब्रह्म में प्रवेश करता है—

“अग्नीषोमौ प्रकृतिपुरुषौ.... ॥२५॥

जो योगी निरन्तर प्रवहमान प्राण-अपान “वाम-दक्षिण स्वर” को सम करके ब्रह्मनाडी सुषुम्ना “मध्यधाम” में स्थित है, अर्थात् शाक्तसमावेश में स्थित है, वह निर्गुण, निराकार, स्वप्रकाश परमशिवत्व को प्राप्त हो जाता है। शाम्भवं-समावेश के द्वारा सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व रूप पूर्णाहंता की अवस्था प्राप्त कर लेता है। प्राण-अपान के सम होने से यही अग्नि, सोम है और ज्ञान-क्रिया-शक्ति प्रधान होने से प्रकृति, पुरुष है, प्रकाश-विमर्श होने से बिन्दु, नाद है, प्रसर और विश्रान्ति पद होने से दिन, निशारूप है, विकास-संकोच

१. “अहमन्नमहमन्नदोऽहमन्नादश्च” (इति श्रुतिः) । “भोक्तृत्वं भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः” (इति श्रीस्पन्दः) ।

(१४)

होने से सत्य, अनृत है, उत्तम और अधम गति करने से धर्म, अधर्म है, सत्ता और असत्ता का ज्ञापक होने से सद्-असद् है। उपरत मति योगी अर्थात् सांसारिक कामनाओं से रहित साधक इनके अन्तर में प्रविष्ट होकर शाम्भव-समावेश प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि प्राणापान में समस्त प्रपञ्च निहित हैं। इनको सम करने से स्वप्रकाश चैतन्य आत्मा का बोध हो जाता है ॥२५॥

कुण्डलिनी के जागरण से सहस्रार से स्रवित सुधाधारा के आस्वादन का वर्णन—

गर्भाधानप्रसवविधये.....॥२६॥

‘द्वादशान्त’ ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर शिरस्थानीय ऊर्ध्व स्थान स्थित सहस्रार, और अधःस्थान स्थित मूलाधार, मध्य में मध्यमधाम स्थित चिद्भानु है। साधक जब अन्तर्मुख होकर शक्ति-समावेश में रत होता है, तो उस अवस्था में कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र में जाती है, वहाँ शिवशक्ति का सामरस्य होने से तद्गत इन्दुमण्डल से अमृतधारा निकलती है। उस अमृतधारा का साधक आस्वादन करता है। इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति शिव-सायुज्य का आनन्द लेकर स्वगृह मूलाधार में आती है और पुनः सहस्रार में जाती है और सुधाधारा का वर्षण करती है। ऊर्ध्व का सहस्र-दलकमल और अधःस्थित मूलाधार कमल खिल जाता है।

इसी विषय का इस श्लोक में श्लेषालंकार से वर्णन किया है। मध्यमधाम में स्थित चिदर्क अपनी रश्मियों से दोनों कमलों को विकसित करके मध्य में स्थित होकर उस रस का पुनः पुनः पान करता है।

जैसे—बाह्य सूर्य ऊर्ध्व में द्यौः ‘अन्तरिक्ष’ और अधःस्थित पृथ्वी को रात्रि में अन्योन्याभिमुख नायक-नायिका की तरह सुप्त, द्यौ और पृथ्वी के मध्य में स्थित सूर्य अपनी रश्मियों से दोनों के मुखकमल को विकसित करके रसास्वादन की लालसा से भौम और अन्तरिक्ष के रसों का पान करता है। ग्रीष्म ऋतु में कर्षण आदि करके बीजवपन आदि का कार्य होता है। उस समय सूर्य अपनी तप्त किरणों से पृथ्वी के अन्तराल में प्रवेश करता है। इसी का इस श्लोक में गर्भाधानरूप में वर्णन किया है और वर्षा ऋतु में उन बीजों का उद्गम होता है। यही प्रसव है। उस वर्षाकाल में सूर्य की

(१५)

वर्षिणी आदि मरीचियों से नाना अन्न, ओषधियों का जन्म होता है। इस प्रकार सूर्यदेव षड्रसास्वादलोलुप होकर पुनः पुनः इस रस का पान करते हैं।

इसका तृतीय अर्थ शृंगार-रसप्रधान है। जैसे—उत्तम सन्तानप्राप्ति के लिये उत्तम रति आवश्यक है। नायक वैदग्ध्य भाव से नायिका को प्रहर्षित करने के लिये वक्त्रासवामृत का लम्पटता से बारम्बार पान करता है। उससे उत्तम रति के द्वारा गर्भाधान एवं उत्तम सन्तति की प्राप्ति होती है ॥२६॥

अण्डचतुष्टय रूप शिवाद्यवनिपर्यन्त षट्त्रिंशात्मक समस्त जगत् का चिदर्क के सन्निविष्ट होने से ही आप्यायन होता है—

सोमं पूर्णामृतमिव चरं ॥२७॥

रूपादि पञ्चदशात्मक मेय वर्ग को अपने मरीचि-विस्फुरण से पूर्णामृत-रूप चरु सम्पादन करके विश्व को स्वकीय शाक्तमुद्रा से आप्लावित करते हुए स्वयं को भी उसमें सन्निविष्ट करके शाक्तरूपी यागवह्नि में धरादि शिव-पर्यन्त षट्त्रिंशत् तत्त्वात्मक समस्त जगत् का तर्पण रूप वैश्वदेव याग में पञ्चदशकलात्मक उस चरुरूप सोम की आत्मवह्नि में आहुति देकर एक-शेष षोडशी अमा कला को अवशिष्ट यज्ञामृत की तरह उसका भक्षण करके, ब्रह्मरन्ध्र में स्थित शाक्त ब्रह्मोपलक्षित अण्ड के अन्तर्गत पृथ्वी, प्रकृति, माया, शक्ति इन अण्डचतुष्टय में सन्निविष्ट होकर गृहपति की तरह स्वात्मयाग करते हैं। जैसे—एक गृहपति पूर्णामृत के समान चरु का सम्पादन करके यागाग्नि में हवन के द्वारा समस्त जगत्तर्पण रूप वैश्वदेव याग करके तदवशिष्ट चरु का भक्षण करके स्वात्मयाग करता है।

बाह्य-सूर्यदेव भी अपनी तीव्र रश्मियों से प्रद्रावित पंचदश सोमकलाओं से देव, ऋषि, मनुष्यों का तर्पण “आप्यायन” करके अमा कलारूपी अवशेष भाग के ग्रसन से ब्रह्माण्ड में स्वात्मयाग विधि को अनुष्ठित करता है।

शुक्लपक्ष में प्रथम कला के अनुक्रम से पञ्चदशकलात्मक चन्द्र का सूर्य की रश्मियों से निर्माण होता है और कृष्णपक्ष में वे कलायें विपरीत क्रम से सूर्य में ही समाविष्ट हो जाती हैं।

“तच्छृष्ट्वा तदनुप्राविशत्” श्रुतिसिद्धान्तानुसार ज्ञानक्रियासम्पन्न सर्वतन्त्रस्वतन्त्र चैतन्यात्मक तत्त्व के द्वारा इस विश्व का निर्माण होता है

(१६)

और वही मार्तण्ड उसमें प्रवेश करके अण्डचतुष्टय को चेतना प्रदान करता है ॥२७॥

सृष्ट्यादि पञ्चकृत्य विधानार्थ देशकालादि से अनवच्छिन्न चिदर्क ही कालकलना के रूप में प्रवर्तित होने से दिनकर संज्ञा से सम्बोधित होता है—

कृत्वा नक्तं दिनमिव ॥ २८ ॥

विश्वोदयकारी कालरूप दिवस के विधायक हे चिदर्क ! पृथ्वी तत्त्व से सदाशिवपर्यन्त जगत् को बीजरूप से आरम्भ और अवसान हेतुभूत आप स्वच्छन्दतन्त्रोक्त “पराधर्कालः” ? अहोरात्र रूप में आभासित होकर उस जगत् के अन्तर्गत, कला तत्त्व से क्षिति तत्त्व पर्यन्त अशुद्ध ऊर्ध्वरूप प्राकृत, ब्राह्म, तदनन्तर देवता, पितर, मनुष्यों के अहोरात्र को क्रम से स्वल्प करते हुए अनेक वैचित्र्य के चित्रण करते हुए, जागरादि पञ्च अवस्था के परावर्तनों से अन्तःस्थित इस विश्व को बाहर में प्रकट करते हैं। पुनः संहरण करते हैं, इस प्रकार सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह, तिरोधान, इन पञ्चकृत्य सम्पादन से इस विश्व को क्रीडामय बनाते हैं।

स्वच्छन्दतन्त्र में सप्तम पटल में श्लोक ४ से ६० तक आध्यात्मिक काल का वर्णन है, यह वहीं पर द्रष्टव्य है, उसी प्रमाण से इस अहोरात्र का मान है।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षद् ब्रह्मणो विदुः।

रात्रियुगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥२८॥ (गीता-४/१७)

आध्यात्मिक अहोरात्र में आरूढ़ योगी लोकोत्तर आनन्द में निमग्न रहते हैं --

तत्त्वालोके तपन सुदिने ॥ -९॥

हे महाप्रकाशस्वरूप तपनदेव ! जो योगी नित्योदित पारमार्थिक चित्प्रकाश अखण्ड ज्योतिरूप दिन में प्राणायामादि प्रयास के विना विमर्श-युक्ति से सम्यक् प्रकार से प्रबुद्ध हैं और इतर योगी जो चित्त के उपशम द्वारा बाह्य अभ्यास, ध्यानादि से मुक्त हैं, ऐसी रजनी योगनिद्रारूप सुषुम्ना नाड़ी में संकल्प-विकल्परहित उन्मनास्थिति सम्प्राप्त हैं। ये दोनों ही योगी पूर्व श्लोक वर्णित आध्यात्मिक अहोरात्र की प्रगति में परमानन्द रूप सन्ध्या,

(१७)

जिसमें प्राण और अपान की समता से शिव-शक्ति-सामरस्य भूमिका में आरूढ़ होकर स्थूल प्राणरूपी सूर्यमण्डल का भेदन करके जीवन्मुक्ति रूप शाक्तानन्द धाम के लोकोत्तर आनन्द में निमग्न रहते हैं ।

तात्पर्य है कि शाक्त समावेश से स्वल्पकाल में महाकाल का प्रवेश हो जाता है । उस स्थिति में योगी स्वल्पकाल में ही दीर्घकाल की उपासना का फल प्राप्त कर लेता है ॥ २९ ॥

अब उस काल-कलना से अकालकलित स्वरूप समापत्ति शिव-शक्ति-सामरस्य भूमि का वर्णन करते हैं—

आब्रह्मेदं नवमिव — ॥ ३० ॥

हे परम प्रकाश रवि ! ब्रह्मा से स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त जगत्, अर्थात् शिव-शक्ति तत्त्व के विना सदाशिव से पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त, स्थावर-जङ्गम जिसका अन्तिम भाग है, ऐसे जगत् का सृष्टिकाल में प्रथम इच्छाशक्ति का जो उन्मेष है, उससे पुनः पुनः सृजन काल में शुद्ध शाक्तामृत मरीचियों से इस जगत् का सृजन करते हैं और पुनः अग्निप्रधान दीप्त रश्मियों से लयकाल में यथायोनि अर्थात् पृथ्वी तत्त्व से सदाशिव तत्त्व पर्यन्त उस जगत् का प्रत्याहरण करते हैं । इस प्रकार सर्ग के आदि और अन्त में प्रकटप्रभाव अपनी शक्तिस्वरूप रश्मिलीला को आभासित करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि पृथ्वी तत्त्व से सदाशिव तत्त्व पर्यन्त कालकलना का प्रभाव रहता है, उसके अनन्तर शिव-तत्त्व कालक्रम से रहित है ।

इस शिव-शक्ति की सामरस्यभूमिका को प्राप्त किया हुआ योगी काल-क्रम से रहित होता है ।

पृथ्वी तत्त्व से प्रत्याहरण विधि से सदाशिव तत्त्व पर्यन्त विलय करने वाला योगी शिव-शक्ति-सामरस्यभूमिका में आरूढ़ हो जाता है ॥ ३० ॥

प्रत्यक् प्राणियों के अन्तराल में चैतन्य आत्मा के रूप में और बाहर विश्वाकार रूप में स्वयं प्रकट चिदर्क का वर्णन—

श्रित्वा नित्योपचितमुचितं... ॥ ३१ ॥

हे स्वयंप्रकट चिन्मय देव ! सदा सर्वदा परिपूर्ण चिदानन्दधन देहादि भाव से रहित, ब्रह्मतेज-प्रकाश, द्वैतभाव को विध्वंस करने वाले परम

(१८)

प्रकाशात्मा, सर्ग, स्थिति, लय आदि जन्म-मरण से रहित, सर्व प्राणियों के समक्ष जो प्रकृति से ही परोक्ष "अगोचर" है, ऐसे यह आपका रूप इस जगत् में परम अनुग्रह करके आपने स्वयं प्रकट किया। जैसे अन्तेवासी शिष्यों पर अनुग्रह करके गुरु आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करवा देता है।

आगमशास्त्र का ब्रह्म अन्तःकरण में, चैतन्य रूप स्पन्द में और बाहर विश्वरूप में स्वयं प्रकट है, अतः इसे प्रत्यक्षावगम कहते हैं ॥३१॥

अब जीव और शिव का ऐक्य प्रतिपादन करते हैं—

लोका सर्वे वपुषि नियतं ॥ ३२ ॥

हे चिन्दानन्द आत्मदेव ! आप समस्त भूतों के कारणभूत हैं, आपके प्रकाशात्मक वपु में ये लोकदृश्यमान समस्त पदार्थ और "लोकपिता" रुद्रक्षेत्रज्ञरूप प्रमाता स्थित है; क्योंकि आपकी जो विश्वसिद्धि करने वाली स्वतन्त्र चितिशक्ति है, इसी से आप विश्वहेतु हैं और इन लोकों में जितने शरीर हैं, उन एक-एक शरीर में आप एक साथ विराजमान हैं। अन्यथा आपके बिना समस्त विश्व जड़वत्, मृतवत् ही होगा। अतः आप निर्गुण होते हुए भी सगुण भासित हैं। हे चिदानन्द ! इस प्रकार से उपवर्णित आपसे मैं भिन्न नहीं हूँ, यह त्रिकालाबाधित सत्य है; परन्तु अन्तर इतना ही है कि आप परमपुरुष, सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्व आदि धर्मों से परिपूर्ण हैं और मैं देहादि में प्रमातृभाव का आपके द्वारा ही ग्रहण कराया गया प्रकृति से ही अल्पज्ञ हूँ।

अतः हे प्रभो ! कृपा करके देहादि में अहंभाव को दूर करके, नित्य निरन्तर चिदात्म भाव में समावेश से स्वरूपज्ञान का वर प्रदान करें।

आगमशास्त्र की दृष्टि से क्रीड़ा के लिये ही सर्वशक्तिमान् भगवान् परमशिव अपनी सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता शक्ति को सङ्कुचित करके अल्पज्ञता और अल्पकर्तृता धारण करके जीव रूप में क्रीड़ा करते हैं। अतः जीव ही परम शिव है। आगमोक्त मन्त्रयोग के द्वारा सुगमता से स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है ॥३२॥

(१९)

आनन्दघन चिदात्मक शाक्ताद्वैत तत्त्व में निष्ठ योगी शरण्य और वरेण्य हो जाता है—

सङ्कल्पेच्छाद्यखिलकरण..... ॥३३॥

हे प्रकाशात्मन् चिन्मय प्रभो ! आपके चरणों में नग्न करने से, आपकी स्तुतिरूप चिन्मय शाक्ताद्वैत तत्त्व की दृढ़ भावना से, मेरे सङ्कल्प, इच्छा “आदि” शब्द से, मेरे द्वारा कृत प्रयत्न, तदनन्तर आलोचन आदि में प्रवृत्त समस्त इन्द्रियाँ और प्राण, सर्वत्र सूक्ष्म परामर्श रूप से व्याप्त वाणी होने से परानुग्रह करने के लिये “वरेण्य”, साधिकार वरण करने योग्य हो गया हूँ । अर्थात् मैं परानुग्रह करने में भी समर्थ हो गया हूँ । “त्वामाश्रिता ह्याश्रयतां प्रयान्ति” के अनुसार आपके जो आश्रित हैं, वे दूसरों के लिये आश्रयरूप हो जाते हैं । अर्थात् सर्वावस्था में मैं चिदर्क के परामर्श-परायण होने से परानुग्रह की स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ और मैं यह अनुभव करता हूँ कि “पाप-पुण्य” अनेक जन्माजित अनन्त शुभ और अशुभ कर्मों का पुञ्जीभूत हिमखण्ड शनैः शनैः विलीन हो रहा है ; क्योंकि पूर्वजन्म-संचित कर्मों का ध्वंस होने पर ही देहारम्भक कर्म ध्वंसोन्मुख होते हैं । अतः यह मेरा शेष जीवन “शरण्य” अर्थात् शरणागत के परित्राण करने में सामर्थ्यशाली हो गया है ।

हे भगवन् ! ये सब स्थिति नहीं होती तो आपके चरणों में भक्ति और श्रद्धा नहीं हो सकती, अर्थात् मेरे शरण्य और वरेण्य होने में एकमात्र हेतुभूत आपके चरणों में श्रद्धा, भक्ति ही प्रधान कारण हैं ।

शाक्त समावेश से, ये समस्त स्थितियाँ समुत्पन्न होती हैं । यह स्तुति व्याज से समासादित सिद्धियों के रहस्य का उद्घाटन किया गया है ।

यहाँ संकल्प और इच्छा, एकार्थक दो शब्द प्रयुक्त हैं । इसमें संकल्प-शब्द स्थूल इच्छा का द्योतक है और इच्छा-शब्द संकल्प की प्रसव-भूमि शक्ति-स्वरूपा है ।

यहाँ पर शाक्त-परामर्श ही कार्य-कारण रूप में वर्णित है । नन्दिशिखा में प्रोक्त रहस्य—

यदा शिवेऽभिलाषो वै जायते च नृणां सदा ।

तदा शिवाभिमानास्ते जायन्ते परमाणवः ॥

मुक्तास्तदैव ते दीक्षां प्राप्नुवन्ति गुरोस्ततः ॥३३॥

(२०)

अब विश्वकल्याणार्थ प्रार्थना करते हैं --

सत्यं भूयो जननमरणे ... ॥ ३४ ॥

हे विश्वबन्धो ! आपके "प्रपन्न" शाक्त-समावेश से संसार के हेतुभूत समस्त वासनाओं के दहन से यद्यपि पुनः जन्म-मरण की सम्भावना नहीं रह जाती, तथापि आपकी स्तुति ही जिसका फल है, ऐसे जीवन के अभिलाष से आपसे याचना करता हूँ कि आपके अवमर्श से चमत्कारपूर्ण मार्ग से, उस स्तुति-रमाविष्ट प्रकार से अर्थात् आपका अवमर्श करता हुआ, इसी देह में "शम", समस्त विश्व जिसमें समाविष्ट है, ऐसे शंकरात्म स्वभाव जागर, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्था में समान साक्षीस्वरूप ईशवत् पूर्ण स्वतन्त्र 'पुण्ययोनि', जिसके दर्शन स्पर्शन से कल्याण हो, ऐसा देह, जिसमें चिदानन्द नित्योदित हो, वह मेरा शरीर विश्वकल्याण के लिये संसार-समुद्र से पार करने के लिये नौकारूप हो जाय । चिरकाल तक स्थिर होकर विश्व का कल्याण करता रहूँ, यह याचना करता हूँ ।

तात्पर्य—योगी जब अपना कल्याण कर लेता है, तब उसके लिये कोई कर्त्तव्य अवशेष नहीं रह जाता है । योगसाधना से भेदभाव का अवसान हो जाता है । जब "आत्मवत् सर्वभूतेषु" विश्वबन्धुत्व की भावना उमड़ पड़ती है, तब वह योगी विश्वकल्याण के लिये स्वयं को समर्पित कर देता है । श्रीशिव-प्रोक्त आगमों की शाक्त-साधना में तो आरम्भ से ही समस्त क्रिया-कलापों में अद्वैतभाव ओत-प्रोत रहता है । शाक्त योगी दृश्यमान समस्त विश्व का चिद्विलास के रूप में अनुभव करता है । अतः उसमें विश्वबन्धुत्व का उदय होना स्वाभाविक है । इसी दृष्टि से उपरोक्त विवेचन की संगति हो जाती है ।

वैदिक उपासना की विद्यमानता में भी श्रीपरमशिव भट्टारक ने आगमोपदेश करके उसका वैशिष्ट्य प्रमाणित किया है । कलिकाल के अल्पसत्त्व जीवों के लिये विस्तृत और क्लेशाधिक्य वैदिक उपासना को संक्षिप्त और सरल बनाकर उसकी उपयोगिता को स्वीकार्य और संग्राह्य सिद्ध करके आगमशास्त्रों को प्राथमिकता प्रदान कर विश्व-कल्याण का मार्ग प्रशस्त बना दिया ॥ ३४ ॥

(२१)

पूर्वोक्त विश्व-बन्धुत्व को चरितार्थ करने के लिये चिदर्क की जगन्मैत्री का वर्णन करते हैं—

सौषुम्णेन त्वमृतपथेनैत्य..... ॥३५॥

हे जगन्मित्र, चिदर्क, प्रभो ! सुषुम्ना-सम्बन्धी सुधाप्लावित मध्यमार्ग से, “शीतांशुभाव” अर्थात् अपानमार्गरूपी चन्द्र स्वर के प्रवाह से, अन्तर्मुख वृत्ति से, समस्त बाह्य प्रपञ्च का संहरण करने वाली विमशंरूप कलाओं से सर्वप्रथम सुर, नर, पितर प्रमातृ वर्ग का पोषण करते हैं । तदनन्तर जल तत्त्व में प्रवेश करके, उम जल तत्त्व को अपनी सुधा से सिञ्चित करके, उनके द्वारा समस्त औषधियों में प्रवेश करके स्थावर सृष्टि को सुधाप्लावित करते हैं । उम अन्न और औषधियों से त्रिभुवन का तर्पण करते हैं । अतः हे चिदर्क ! आपकी जगत् से मित्रता सिद्ध होती है । सूर्यदेव का एक नाम “मित्र” इसीलिये है ।

बाह्य सूर्यदेव भी “सुषुम्नामार्ग” देवमार्ग से सुधा-संक्रमण के लिये चन्द्रत्व भाव को प्राप्त करके सुर, नर, पितरों का पोषण करके, अपनी सौम्य रश्मियों से जल तत्त्व में प्रवेश करके, दक्षिणायन में जलवर्षण रूप से औषधियों में प्रवेश करके, उनको सरस सम्पादन करके उनसे त्रिभुवन का भरण-पोषण करते हैं । अतः उनका नाम “मित्र” है ।

इसका तात्त्विक अर्थ—योगी अन्तर्मुख होकर जब शाक्त-समावेश में स्थिर होता है, तो सुषुम्ना मार्ग विकसित हो जाता है । उस समय चिच्छक्ति का किञ्चित् सम्पर्क चन्द्रस्वर “इडा नाडी” से हो जाता है, तब चिद्रश्मियाँ इन्द्रियाधिष्ठातृ देवताओं को सम्बल प्रदान करती हैं, जल तत्त्व में प्रवेश होने का तात्पर्य है कि योगी का जलाधिष्ठान मणिपूरक चक्र विकसित होकर, धराधिष्ठान मूलाधार का भेदन हो जाता है, वहाँ पृथ्वी तत्त्व व्याप्त है । तदनन्तर मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति से संपृक्त नाडियों से समस्त शरीर चैतन्यामृत से आप्लावित हो जाता है । व्यष्टि जगत् से यही चिदात्मदेव का मैत्री-सम्बन्ध है ।

व्यष्टि जगत् की तरह समष्टि जगत् में भी विस्तृत सुषुम्नामार्ग है । इसी से देवगण और योगीजन लोकान्तरों में आवागमन करते हैं ॥३५॥

अब पूर्णख्याति परम सामरस्यभाव समाधि के लिये प्रार्थना करते हैं—

मन्दाक्रान्ते तमसि भवता ॥३६॥

हे नाथ, दिनकर, स्वामिन्, चिदर्क ! आपके द्वारा मेरे अज्ञानान्धकार को दूर करने पर रागद्वेषों का अवसान होने पर भी अन्तर्लीन हुई मेरी मति

(२२)

‘गाढ़निद्रा’ पूर्ण अभेद को प्राप्त नहीं होती है, अर्थात् पूर्ण सामरस्य की अनुभूति नहीं हो रही है। अतः पूर्णरूप से अन्धकार को दूर करने वाली अपनी आत्मभासा स्वदीप्ति से पद्मिनी जैसे विकसित करते हैं। उस तरह हे दिनकर ! प्रकाशात्मन् ! शीघ्रातिशीघ्र “परंबोध” पूर्ण सामरस्यभाव समाधि के लिये अनुग्रह करें। स्वयं ज्योति रूप प्रदान करें।

जैसे सूर्य ही देवता हैं जिसके, ऐसी पद्मिनी को, रात्रि के अवसान होने पर प्रभातकाल में अन्धकार अन्तर्लीन होने पर भी संश्लिष्ट दल वाली पद्मिनी विकसित नहीं होती है, तो सूर्यदेव प्रातःकालीन रश्मियों से उसको विकसित करते हैं ॥३६॥

अब निर्व्युत्थान-समावेश-रसास्वादन के लिये प्रार्थना करते हैं—

येन प्रासीकृतमिव जगत् ॥३७॥

हे भानो ! चिन्मरीचिमालिन् ! ग्रह जगत् जिस अज्ञानान्धकार से ग्रसित था, अनुग्रहपूर्वक उस अन्धकार को दूर किया, पुनः उस पर अनुकम्पा करके दिन-रात, शुक्ल और कृष्ण रूप में विभाजित किया, अर्थात् व्युत्थान दशा में प्राणापान के संचरण काल में पुनः उस ध्वान्त का पोषण करते हैं।

जैसे—बाह्य सूर्य देव जगत् के अन्धकार को दूर करके पुनः दया से युक्त होकर, उस दिन और रात्रि रूप में विभाग करके उसका पोषण करते हैं। “यह श्लेषोपमा है।” प्रकाशात्मन् ! उस दुरात्मा अन्धकार पर भी आपने अनुकम्पा की, उसी तरह व्युत्थानात्मक क्लेश में भी मेरी रक्षा करें। चञ्चल इन्द्रियों के विषयों से हान और आदान से परिभूत मेरे दोष, दुष्कृत पर भी आप दया करें। अर्थात् निर्व्युत्थान रसास्वादन का मुझे पात्र बना दें ॥३७॥

व्युत्थानदशा की भर्त्सनापूर्वक समावेश के लिये प्रार्थना—

आसंसारोपचितसदसत्” ॥३८॥

हे करुणावरुणालय ! चिदर्क ! प्रभो ! संसार के प्रारम्भ से सञ्चित अनन्त पुण्य और पापकर्मों के बन्धनों से जकड़े हुए, आधि-व्याधि, जन्म मरण, क्षुधा, पिपासा आदि दुःखों से दुःखित, मिथ्याज्ञानरूपी प्रबल अज्ञानान्धकार से किंकर्तव्यविमूढ़ हुए, यत्र तत्र दुरवस्था में पड़े हुए, सांसारिक संकल्प-विकल्पों से संतस्त हुए, इन जीवों पर कृपा करके, हे नाथ ! हमारी रक्षा करें, अर्थात्

(२३)

संसार के चिन्तन रूप व्युत्थान-दशा से दूर करके भगवत्-स्मरणरूपी समा-
वेश प्रदान करके हमारे रक्षक बनें ॥३८॥

भोगों में लम्पट शिशुओं की पितृभाव से रक्षा करने की प्रार्थना—

सत्यासत्यस्खलितवचसां ॥३९॥

सत्य और मिथ्या को समान मानकर अनर्गल प्रलाप करने वाले लज्जा-
रहित होकर असभ्य आचरणपरायण शारीरिक और मानसिक पवित्रता से
रहित अज्ञानान्धकार से दिशाविहीन भटकने वाले अफल सफल अनेक
प्रकार कुत्सित कामनाओं की प्राप्ति के लिये अधीर हुए, अनेक
प्रकार की दुरवस्थाओं में भी सांसारिक समस्त विषयभोगों के निरन्तर
चिन्तन के अभ्यास में निमग्न रहने वाले, भोगों में लम्पट इन पुत्रों की
पितावत् रक्षा करें। हे नाथ ! तत्त्वदृष्टि से आप ही हमारे जनक हैं ॥३९॥

यावद् देह जरयति जरा ॥४०॥

भक्तों को अभय प्रदान करने वाले स्वामिन् ! यमराज की पुरी से आकर
जरारूपी दूती इस देह को जब तक जर्जरित न कर दे, जीवन का अन्त करने
वाले, त्रिफण भयङ्कर भुजङ्ग की आकृति वाले दुर्वार यम के पाश सहसा
हमारे कण्ठ में गाढ़ रूप से जब तक संलग्न न हों, हे अशरण-शरण, अकारण-
करुण, करुणावरुणालय, भक्ताभयद, प्रभो ! तत्काल हमारा कल्याण करने के
लिये प्रसन्न हों।

अर्थात् व्युत्थान दशा में ही मरणपर्यन्त जो दुर्दशा है, उसकी प्राप्ति न
हो एवं देह में अहंभावरूपी कालुष्य दूर होकर निर्व्युत्थान अवस्था में
प्रकाशानन्दधन परम समावेश रूप अजर-अमर कर देने वाले अमृत रस के
आस्वाद का सुख प्रदान करें ॥४०॥

मृत्युभय से त्राण के लिये अमृतवपु चिदर्क से प्रार्थना—

विश्वप्राणग्रसनरसना ॥ ४१ ॥

जीवन को भक्षण करने के लिये जिसमें जिह्वा लपलपाती है और लाल-
लाल आँखें, विकराल दंष्ट्रावाले क्रोधभरे मृत्यु के भयङ्कर मुख को देखकर
भय से इस देह का जब तक अन्त न हो जाय, हे चिदर्क ! नित्यानन्दधन,
सुधाधाम ! तत्काल इन दिग्भ्रमितों की रक्षा करें ॥४१॥

(२४)

परम अनुग्रहशाली श्रुतिस्वरूप शब्दब्रह्म का स्तवनस्वरूप करुणरस-
प्रधान करुण-क्रन्दन—

शब्दाकारं वियदिव वपुः ॥ ४२ ॥

प्रशान्त धाम होने से सामवेदस्वरूप, शब्दस्वरूप से यजुर्वेद रूप, समस्त शब्दों के आश्रयभूत, गायत्री आदि सप्त छन्द रूप तुरंग वाले प्रभापरिवेष से ऋग्वेदमय मण्डल वाले, इस प्रकार परमकरुणामयी स्नेहमयी भक्तवत्सला श्रुतिमाता के स्वरूप होने से, करुणावरुणालय होने से शीघ्र अनुग्रह करने वाले, कृपण मूढ़ों पर भी कृपा करने वाले- मेरे इस कृपण करुण-क्रन्दन को शीघ्रातिशीघ्र श्रुतिगत करें। अर्थात् प्रार्थना 'स्तवन' रूप करुण रस-प्रधान विलाप को श्रवणानन्तर क्षिप्र-प्रसाद करने का अनुग्रह करें ॥४२॥

विनाश करने के लिये उद्यत हुये देवों द्वारा भी नष्ट न होने वाले चिदकोपासक—

नाशं नास्मच्चरणशरणा ॥ ४३ ॥

हे भगवन् ! चिदामृत ! विवश्वन् ! चिदकं आत्म-विवश्वात् के चरण-शरण अनन्य भक्त, त्रिभुवन के शासनाधिकारी देवगण द्वारा विनाश के लिये समुद्यत होने पर भी नाश को प्राप्त नहीं होते, ऐसा आपका शुभ्र यशोगान त्रिलोकी में मुखरित हो रहा है। “मन्ये” यह उत्प्रेक्षा है कि सोम की पञ्चदश कलाओं को देव-पितरों द्वारा भुक्त करने से क्षीणतनु चन्द्र की एक अमा कला का सूर्य से संपर्क रहने से पुनः वृद्धिज्जत होकर वह षोडश कलाओं की शुभ्र ज्योत्स्ना से परिपूर्ण हो जाता है।

रहस्यार्थ—इड़ा नाडी के अन्तर्गत सोम तत्त्व के इन्द्रिय रूप देवों द्वारा उपभुक्त होने से क्षीण होने पर सुषुम्ना के विकसित होने से मध्यमधाम में स्फुरित चिन्मरीचियों के प्रकाशामृत से सोम तत्त्व की परिपूर्णता होती रहती है। अर्थात् विषयों के सेवन से इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होती है। मध्यम-धाम में प्रविष्ट साधक “योगी” की ब्रह्मनाडी सुषुम्ना के विकास से तद्गत अमृतकणों से देह हृष्ट-पुष्ट और दीप्तिमान् हो जाता है ॥४३॥

(३५)

आत्म-विवस्वान् चिदर्कोपासना से जीवनकाल में समस्त ईप्सित-प्राप्ति, निर्वाण समय में ज्योतिस्वरूप का आभास—

आस्तां जन्मप्रभृति भवतः ... ॥४४॥

जीवनकाल में चिदात्मा की उपासना के अपरिमित फल का सम्यक् प्रतिपादन करने के लिये इस लोक में कौन समर्थ है ? अथवा इयत्ता से कहने में कोई भी समर्थ नहीं है ; क्योंकि इस उपासना से सम्प्राप्त भुक्ति-मुक्ति का प्रकार अलौकिक है । भुक्ति माने विषयभोग; परन्तु इसमें चित्-चमत्कार के आवेश से अलौकिक आनन्दानुभव ही भुक्ति है । विषयासक्त रूप भुक्ति नहीं है । जीव के शिवत्व भाव की अभिव्यक्ति रूप जीवन्मुक्ति ही “मुक्ति-पदवाच्य” है । योगिजनों को जीवन के अन्त में, निर्वाणकाल में, स्मृति पथ में ज्योतिस्वरूप का आभास विद्यमान रहता है ।

अर्थात् शाक्ताद्वैत चिदात्मतत्त्व के उपासक का समस्त मनोरथ पूर्ण हो जाता है । वह संसार को क्रीड़ामात्र समझता है और अजर-अमर, अच्छेद्य-अभेद्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव प्रत्यक्चैतन्याभिन्न आत्मतत्त्व में परिनिष्ठित होकर जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है ॥४४॥

हृदयस्थ चिदात्मदेव प्रत्यक्ष हैं और उनके भजन का फल भी प्रत्यक्ष होता है—

अप्रत्यक्षत्रिदशभजनात्..... ॥४५॥

अप्रत्यक्ष इन्द्रादि देवताओं के आराधन से आराधकों को स्वर्गादि फल की कालान्तर में परोक्षरूप से प्राप्ति होती है । स्वप्रकाश, चिदात्मन्, प्रभो ! आप तो सर्वान्तर्यामी स्वप्रकाशरूप चिदात्मा होने से प्रत्यक्ष हैं, यह युक्ति-सङ्गत भी है कि कारणोचित ही कार्य होता है, घट का उपादानकारण मृत्तिका है, अतः घट भी मृण्मय है, अप्रत्यक्ष देवताओं की उपासना का फल भी अप्रत्यक्ष है, चेतना के बिना सब कुछ अचेतन है, “जड़ है” । आप प्रत्यक्ष देवता के समाराधन का फल समक्ष होता है । अतः समस्त देवताओं को छोड़कर आपका ही स्तवन प्रार्थना और आप से ही याचना करता हूँ । नित्योदित समावेश रूपी “समक्ष” प्रत्यक्ष फल है ॥४५॥

(२६)

योग और भोग के लिये पूर्णसुखरूप आरोग्य के दाता अमृतवपु चिदर्क का वर्णन—

ये चारोग्यं दिशति भगवान् ॥४६॥

जो आराधक योग और भोग के लिये आरोग्य आकांक्षा करते हैं, और कहते हैं कि सेवा करने से भगवान् आरोग्य प्रदान करते हैं वे तत्त्वज्ञ और सौभाग्यशाली हैं; क्योंकि वे योग और भोग के लिये आरोग्य की कामना करते हैं। यह युक्तियुक्त है; क्योंकि भुक्ति और मुक्ति के आश्रय पूर्णसुखरूप आरोग्य को देनेवाला, अमृतवपु चिदर्क से अन्य कौन ऐसा दाता हो सकता है; अपि तु “कोऽपि नास्ति” ॥४६॥

स्वेन्द्रियों को दिव्य करने की कामना से याचना—

हित्वा हित्वा गुरुचपलताम् ... ॥४७॥

हे कल्पतरु ! दिनपते ! मेरी इन इन्द्रियों ने अपनी स्वाभाविक चञ्चलता का त्याग करके अपने विषयों का भी परित्याग किया। आपकी सेवा के लिये अन्तर्मुख भाव आवश्यक है, इसके लिये इन्द्रियों की एकाग्रता आवश्यक है। अतः आपके परिशीलन के लिये मेरा प्रिय करना जिन इन्द्रियों का एकमात्र प्रयोजन रहा, उन इन्द्रियों का सर्वप्रथम उपकार करना चाहता हूँ। अतः आप मेरे पहले उन पर प्रसन्न हों, अर्थात् उनके मायिक दोष को दूर करके अपनी चिन्मरीचियों के प्रभाव से उन्हें दिव्यता प्रदान कर दें।

तात्पर्य यह है कि इस उपासना से बाह्य-अन्तर इन्द्रिय और देह में दिव्यता प्राप्त होती है ॥४७॥

कृतस्तुति-साफल्यार्थ प्रार्थना—

किं तन्नामोच्चरति वचनं.... ॥४८॥

हे अनवच्छिन्न-चैतन्य-विश्वमूर्ते ! प्रभो ! ऐसा कौन सा वचन है, जिसके आप उच्चारक नहीं हैं और समस्त वाचकों का कौन सा वाच्य है, जो आप नहीं हैं। आप समस्त जगत् के वाच्यवाचकात्मक स्वरूप हैं। हे परावाक्-स्वरूप, शब्दब्रह्म प्रभो ! आपकी इस स्तुति में वास्तविकता से भिन्न भक्ति-भाव से जो कुछ भी कहा, वह आपकी प्रसन्नता से घन्य हो जाय, अर्थात् इस स्तुति से अन्तर्निर्मलता-प्राप्ति के द्वारा आपके स्वरूप का स्फुरण प्राप्त हो ॥४८॥

(२७)

जीवन्मुक्ति के लिये उन्मनावृत्ति की उत्कण्ठा—

या पन्थानं दिशति ॥ ४९ ॥

हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक प्रसरण करने वाली प्राण-वृत्ति शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं के छः मास में देवताओं की प्रीति करने वाले देवयान मोक्ष-प्रधान शुक्ल मार्ग का निर्माण करती है और अपान नाम की वृत्ति ब्रह्मरन्ध्र से हृदय में प्रवेश करने वाली वर्षा, शरद्, हेमन्त इन तीन ऋतुओं के छः मास में पितरों को प्रीति देने वाले भोगप्रधान दक्षिणायन कृष्ण पितृयान का निर्माण करती है। प्राण और अपान, इन दोनों वृत्तियों से भिन्न सर्वत्र व्याप्ति वाली, विषुवत् रूपा, द्वैतभाव का शमन करने वाली, अभिजित् स्वरूपा मध्यमधामवर्तिनी, सौम्य-क्रूर आदि कार्यों से शून्य, सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्यशालिनी, जीवन्मुक्ति प्रदान करने वाली, वाम-दक्षिण स्वरो के मध्य में वहन करने वाली, उन्मनाख्या वृत्ति में स्थिति हो, हे चिदर्क ! यही मेरी उत्कट उत्कण्ठा है ॥४९॥

अनुत्तर चिदाकाशरूप सर्वोर्ध्वधाम प्राप्ति की चिदर्क से प्रार्थना—

स्थित्वा किञ्चिन्मन इव ॥ ५० ॥

हे चिदर्क, प्रभो ! देवयान और पितृयान मार्ग से भिन्न प्राणापान के प्रवाह को निरुद्ध करके ब्रह्मभूत होकर, अर्थात् अनवच्छिन्नता को प्राप्त होकर मैं अनवच्छिन्न चैतन्यात्मा चिदर्क में ऐक्यभाव को प्राप्त करूँ। वह चिदर्क कैसा है ? उसका वर्णन करते हैं। विश्वसत्ता प्रदान करने वाले सामरस्य धाम से ऊर्ध्व, परमप्रकाशानन्दघन “परमव्योम” अनुत्तरचिदाकाशरूप प्रशान्त प्राणापान परम शून्यस्वरूप है। उसमें प्रवेश कैसे सम्भव है ? उसका वर्णन करते हैं। “दिव्यन्तु करणं कृत्वा तत्त्वस्योच्चरणं चरेत्” इस स्वच्छन्द-तन्त्रोक्त विधि से दिव्यकरण के बन्धाश्रय से महाप्रणव के उच्चारण द्वारा बन्धों का भेदन करता हुआ बिन्दुस्थान को प्राप्त करके नादनादान्तरोधिनी करके समना से उन्मना वृत्ति को प्राप्त करके उस परमतत्त्व में लीन होना सम्भव है ॥५०॥

इस स्तोत्र के पाठ और विमर्श से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति—

सर्वात्मत्वं सवितुरिति ॥ ५१ ॥

निरन्तर चिद्रूप में स्पन्दमान कभी भी अस्त न होनेवाले, विश्वमूल चैतन्यात्मतत्त्वरूप सविता के तादात्म्यरूप ‘विश्वात्मभाव’ रूप योग, अर्थात्

(२४)

चिदात्मतत्त्व से ऐक्यभाव का जो इच्छुक है। सांसारिक विषयों में किञ्चित् मात्र भी इच्छा से रहित है और संसार के समस्त दोषों के जनक सर्वदोष-मूर्धन्य राग-द्वेष से रहित होकर समतारूप अभेदख्याति अद्वैततत्त्व की जिज्ञासा से बाङ्-मन-काय-बुद्धि से, अर्थात् वाणी से इस स्तुति का पाठ, मन से अनुसन्धान, देह से उस तत्त्व में निमज्जनरूपी प्रणाम, बुद्धि से "अध्यव-साय" तादात्म्य चिन्तन करता है। उसको पुण्य, पाप, शुभ, अशुभ कर्मरूपी रज्जु के बन्धन से मुक्त करने के लिये आत्मविश्रान्तिदायक आत्मतत्त्व का बोध करा देनेवाली इस स्तुति की मोक्षलक्ष्मी से सुशोभित, भगवान् वासु-देव श्रीकृष्ण के पुत्र श्रीसाम्ब ने युक्तियुक्त रचना की है। "युक्तियुक्त" आत्मविश्रान्ति योग से युक्त।

संक्षेपार्थ— पुण्य और पाप कर्मों की बन्धन रूप रज्जु से मुक्त होने के लिये और राग-द्वेषरहित समता योग में आरूढ़ होने की इच्छा से मन, वचन, कर्म और बुद्धि से विश्वात्मा चिदकं से ऐक्य-प्राप्ति के लिये, स्तुति-रचना का श्रीसाम्ब ने युक्तिपुरस्सर वर्णन किया है ॥५१॥

श्रीसाम्ब-प्रोक्त प्रकट-गहन, अध्यात्मगर्भ, आत्मसविता स्तोत्र का पठन, अनवरत विमर्शन से शुकवत् आत्मबोध की उपलब्धि—

भक्तिश्रद्धाद्यखिलतरुणी " " ॥५२॥

भक्ति, श्रद्धा आदि भावमयी निखिल तरुणियों के वल्लभ श्रीसाम्ब द्वारा प्रोक्त स्थूलार्थ में प्रकट और आध्यात्मिक अर्थ में गहन, रहस्यपरिपूर्ण, चैतन्यात्मस्वरूप सवितासम्बन्धी स्तोत्र का जो निश्चयपूर्वक अनवरत पारायण और विमर्शन करता है, वह सर्वभूतो में आत्मीय भाव को प्राप्त करके अन्त में परमसिद्ध योगीन्द्र महामुनि शुकदेव की तरह, द्वैतभाव का ध्वंस कर देने वाले चण्डरश्मि चिदकर्मण्डल में प्रवेश का अधिकारी हो जाता है। अर्थात् विश्वसामरस्य रूप आत्मबोध को उपलब्ध कर लेता है। अखिलतरुणीवल्लभ साम्ब से, रूपलावण्य की अतिशय मात्रा से, समस्त बाह्यरमणी-स्पृहणीय होने से व्यतिरेकलभ्य अर्थ से भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के पुत्रत्व को प्रकट करते हैं।

अर्थात् श्रीसाम्ब साक्षात् श्रीकृष्ण के ही पुत्र थे। अतः "आत्मा वै जायते पुत्रः" के अनुसार श्रीसाम्ब की श्रीकृष्णवत् प्रतीति होती है ॥५२॥

(२९)

परमरहस्यपरिपूर्ण सागम ब्रह्मचर्चा के कीर्तन-श्रवण से शुभ सिद्धियाँ—
इति परमरहस्यश्लोक... ॥ ५३ ॥

महारहस्यपरिपूर्ण पञ्चाशत् श्लोकात्मिका स्तुति, अखण्डित प्रताप भगवान् चिदर्क के स्तवन से परमपवित्र, परमशिवभट्टारकप्रणीत आगमशास्त्रों की ब्रह्मचर्चा, के वर्णन और आकर्षण से दुरितों को ध्वंस करने वाली भक्ति श्रद्धावान् आराधकों को मातृवत् अभीष्ट भोग-योगलक्ष्मी रूप शुभसिद्धि प्रदान करे ।

इस स्तुति के श्रवण-कीर्तन से आपका, हमारा, सबके पापों का नाश हो ॥५३॥

“स्थित्वा किञ्चिन्मन इव पिबन्” इस श्लोकपर्यन्त पञ्चाशत् श्लोक होते हैं, शेष श्लोक फलश्रुति के हैं ।

श्रीगुरुचरणसरोजरेणु
दत्तात्रेयानन्दनाथ
(सीताराम कविराज)



साम्बपञ्चाशिका

राजानकश्रीक्षेमराजकृतया टीकया समेता

पुण्णन् देवानमृतविसरैरिन्दुमात्राव्य सम्यग् ।

भाभिः स्वाभी रसयति रसं यः परं नित्यमेव ॥

क्षीणं क्षीणं पुनरपि च तं पूरयत्येवमीदृग् ।

दोलालीलोलसितहृदयं नौमि चिद्भानुमेकम् ॥

एतदावेशवैवश्यप्रोन्मिषद्विषणा वयम् ।

विमृशामो मनावच्छीमत्साम्बपञ्चाशिकास्तुतिम् ॥

सोऽयं परामृतरसो रसज्ञैरिह रस्यताम् ।

आयुष्याज्यामृतस्पर्शः शतपद्या हि शान्तये ॥

समस्तागममहाम्नायरहस्यविन्महायोगिसहस्रसंप्रदायसंपूर्णः श्रीवासुदे-
वस्य भगवतः पुत्रः श्रीसाम्बः स्वात्मविवस्वत्स्तुतिं जगतोऽनुग्रहाय वक्तुमु-
पक्रमते—

शब्दार्थत्वविवर्तमानपरमज्योतीरुचो गोपते-

रुद्गीथोऽभ्युदितः पुरोऽरुणतया यस्य त्रयीमण्डलम् ।

भाव्यद्वर्णपदक्रमेरिततमःसप्तस्वराश्वैर्विय-

द्विद्यास्यन्दनमुन्नयन्निव नमस्तस्मै परब्रह्मणे ॥ १ ॥

तस्मै परस्मै सर्वोत्कृष्टाय विश्वपूर्णादिकर्त्रे च । अत एव चाभावशान्त-
ब्रह्मचित्रब्रह्मादिसर्वब्रह्मक्रोडीककर्त्रे ब्रह्मणे बृहते व्यापकाय बृंहणाय च विश्वकर्त्रे
चिदात्मने नमः । देहादिप्रमातृताप्रशमनेन तदेवाविशामीत्यर्थः । यस्य ब्रह्मणः
सम्बन्धि ऊर्ध्वमशेषविश्वाभेदात्मतया उत्कृष्टतया गीयते विमृश्यत इत्युद्गीथः
प्रथमोन्मेषात्मशब्दब्रह्मरूपः प्रणवो ध्वनिः । देवतास्तुतिकर्मप्रधानसामर्ग्यजु-
र्वेदाख्या त्रय्येव शाखा प्रपञ्चक्रोडीकृतसमस्ताम्नायवाक्यैकवाक्यताव्याप्त्या
मण्डलम् । अतश्चैतत्सर्वासां विद्यानां मन्त्रशास्त्रविज्ञानानां स्यन्दनमास्पदं

साम्बपञ्चाशिका

प्रसवकारणं च कर्मभूतं च वियत्पराकाशमुन्नयन्तुल्लासयन्तन्मयत्वमापादय-
न्निव पुरः प्रथममरुणतयाऽतिदीप्तत्वेनोदितः स्वयमुन्मिषितः । वियन्मयस्या-
प्यस्य दीप्तस्योन्मेषावष्टम्भपुरःसरं तथा स्फुरणादुन्नयन्निवेत्युक्तम् । एतच्च
त्रयीमण्डलं भास्वद्भिः प्रोद्गीथारुणिम्ना स्फुरितैर्वर्णपदक्रमैरक्षरवाचकतदानु-
पूर्वीभिरीरितं ध्वस्तं तमोऽज्ञानं येन तादृक् । उच्चारणपदार्थवाक्यार्थप्रति-
पत्तिषु परमचिदभेदविश्रान्तिदमित्यर्थः । केन वियदुन्नयन् । सप्त ये स्वराः
स्वयं राजमाना विश्वाक्षेपिणो वर्णाः पश्यन्त्यादिप्रवर्तनप्राणितकल्पाः
षड्जादिध्वनिविमशास्ति एव सर्वत्राशुसंचारित्वादश्वास्तैः । यस्य ब्रह्मणः
कीदृशस्य । गोपतेः परादिवाक्प्रभोर्मरीचिचक्रेश्वरस्य च । अत एव शब्दार्थ-
त्वेन नानालौकिकेतरशब्दतदर्थतत्संबन्धैर्विचित्रतया वर्तमानं स्वातन्त्र्यादेतद्वै-
चित्र्याभासात्म यत्परं ज्योतिः शाक्तं वीर्यं तेन च रुग्दीप्तिर्यस्य । बाह्यस्यापि
सूर्यस्य “ज्ञानशक्तिः परा ह्येषा तपत्यादित्यविग्रहा” इत्याम्नायनीत्या
परब्रह्मप्रतिबिम्बकल्पस्य प्रणवव्याप्तिकोऽरुणः पूर्वमुदितः । त्रयीव्याप्तिकं
मण्डलमितरविद्याव्याप्तिकं स्यन्दनं च कर्मभास्वद्वर्णैः पदक्रमैर्देदीप्यमानचर-
णविन्यासैरीरिततमसो ये सप्तस्वरव्याप्तिका अश्वास्तैर्वियदुत्क्षिपति । अथ च
विचित्रवाच्यवाचकात्मजगद्वृत्तेश्चिच्चक्रेश्वरस्योद्गीथः शक्त्यङ्कुरोन्मेषो
दीप्तो ब्रह्मविष्णुरुद्रजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिब्रह्ममूलमायाण्डादित्रयीमण्डलम् ।
वियद्व्यापकम् । “वेदनानादिधर्मस्य परमात्मत्वबोधना” इत्याद्याम्नायनिरुक्तो-
न्मनाशक्त्याख्या विद्यास्यन्दनं स्वरैर्विचित्रैर्मन्त्रैर्ध्वनिभिरुन्नयन्निव प्रथम-
मुदितः । किं कृत्वा ? भास्वतां वर्गानामाकारादिमात्राणां पदानां
बिन्द्वादिविश्रान्तीनां क्रमेण परिपाट्या ईरितं तमः समनान्तं पाशजालं
यत्र ॥ १ ॥

एवं सामान्यव्याप्त्या परमाकं स्तुत्वा देहस्थमध्यनाडीव्याप्त्या स्तौति—

ओमित्यन्तर्नदति नियतं यः प्रतिप्राणि शब्दो

वाणी यस्मात् प्रसरति परा शब्दतन्मात्रगर्भा ।

प्राणापानौ बहति च समौ यो मिथो ग्राससक्तौ

देहस्थं तं सपदि परमादित्यमाद्यं प्रपद्ये ॥२॥

तं परमादित्यं परब्रह्मस्वरूपमेव देहस्थितं मध्यनाडीगतप्राणब्रह्मनिविष्टम्
आद्यं विश्वचित्रभित्तिभूतं सपदि प्रपद्ये अभिसन्ध्यवधानेन समाविशामि । कं

राजानकश्रीक्षेमराजकृतया टीकया समेता

तमित्याह—य ओमितिशब्दः क्रोडीकृताशेषशब्दनात्मनादरूपो महाप्रणवः
प्रतिप्राणि सर्वभूतेषु नियतमविच्छिन्नप्रवाहेणान्तर्नदति परावागात्मस्वरूपं
विमृशन् स्थितः । यस्माच्च शब्दतन्मात्रगर्भा आभूत्रितक्रमा आदिशान्तशब्द-
सामान्यमात्राऽविभागज्योतिर्मयी पराद्वितीया वाणी पश्यन्ती प्रसरत्युन्मिषति ।
यश्च मिथो ग्राससक्तावन्योन्यकवलनपरौ समौ समानभूमिकारूढौ प्राणापानी
वहति । उदानवह्न्यात्मनिजमहाज्योतिर्मयी करोति ॥ २ ॥

एवं महाव्याप्त्या सूक्ष्मव्याप्त्या चानवच्छिन्नं मध्यधामस्थं च चिदकं
नुत्वा प्रपञ्चव्याप्त्यापि स्तौति—

यस्तवक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणपाण्यङ्घ्रिवाणी-

पायूपस्थस्थितिरपि मनोबुद्ध्यहङ्कारभूतिः ।

तिष्ठत्यन्तर्बहिरपि जगद्भासयन् द्वादशात्मा

मार्तण्डं तं सकलकरणाधारमेकं प्रपद्ये ॥३॥

मृतानां वेद्यैकरूपतया शवप्रायाणामण्डानां देहप्राणादिपिण्डानामयमनु-
प्राणको मार्तण्डश्चिद्भासुस्तमेकमद्वितीयमपि प्रपञ्चव्याप्त्या सकलानां प्रमातृणां
सकलानि करणानि च त्रयोदशकरणानि च तेषामाधारमनुप्राणकमविभिन्न-
माश्रयं प्रपद्ये । यस्तवगाद्यहङ्कारान्तस्वीकृतत्रयोदशेन्द्रियमूर्तिः । अतश्चान्तर-
हङ्कारात्मा वेदग्राहकरूपः बहिश्चाध्यवसायादिव्यापारबुद्ध्यादिकरणद्वाद-
शात्मा ग्राह्यरूपं जगद्भासयन्तिष्ठतीति स्थूलदृशार्थः । रहस्यदृशा तु
गृहीतसर्वेन्द्रियमूर्तिरपि यः सृष्ट्यादिमरीचिचक्रचित्रसंचारचातुर्याद्द्वाद-
शात्मा एक एव चिदकोऽन्तर्बहिश्च जगत्कालानलादि व्योमकलान्तं विश्वं
भासयन्स्तुर्यधामात्मनिजभासा चक्रमयत्वमापादयन् सर्वकरणान्याधारातया
निजौजोव्वलनज्वलितान्याश्रित्य स्थितस्तं प्रकर्षेण प्रपद्ये । निजव्युत्थानं
साक्षात्कुर्वन् स्थितोऽस्मीत्यर्थः ॥३॥

प्रपञ्चव्याप्त्याखिलेन्द्रियाधारे स्तुतेऽपि भगवति प्रकाशविमर्शपरमार्थे
तद्विमर्शप्रसरसरणिं वाणीं स्तौति—

या सा मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टि

वर्णान्न प्रकटकरणैः प्राणसङ्गात् प्रसूतान् ।

साम्बपञ्चाशिका

तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थां

वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये ॥४॥

अविभागात् पश्यन्ती सर्वतः संहतक्रमा ।

स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥

इत्यादिना लक्षितां प्रथममादावुदितामुन्मिषितां तां स्वरूपज्योतीरूपां पश्यन्त्याख्यां तदनु तामेव बुद्धिसंस्थां बुद्ध्यभ्यासं प्राप्ताम् ।

केवलं बुद्ध्युपादानात् क्रमरूपानुपातिनी ।

प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥

इत्यादिलक्षिताम् । मध्ये भवत्वान्मध्यमां मध्येऽन्तःकरणे वर्तमानाम् । तदनु वक्त्रे वदने करणेषु जिह्वामूलजिह्वामध्यमादिषु विषदां निर्मलाम् ।

स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा ।

वैखरी वाक्प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना ॥

इत्यादिना लक्षिताम् । विखरे शरीरे भवत्वात्तदाख्यां वाचं प्रपन्नोऽस्मि । कां तामित्याह—या सा मित्रावरुणसदनादग्नीषोममयात्मनः परावाक्प्रधानान्मध्यधानोऽकारादींस्त्रिषष्टि वर्णानुच्चरन्ती आसूत्रितक्रमतया भेदाभेदाभ्यां भेदेन च विमृशन्ती । केनोच्चरन्ती ? प्रकटैरन्तर्मुखीभावेनाभिन्नस्फुटप्रकाशैकमध्यमाप्तैः करणैः सर्वेन्द्रियैः । कीदृशान् वर्णान् ? प्राणसङ्गात् प्रसूतानुद्भूतान् । तत्र चिज्ज्योतिषि गुणीभूतसूक्ष्मप्राणसङ्गात् पश्यन्त्यां गुणीभूतचित्सूक्ष्मप्राणसङ्गान्मध्यमायां स्थूलप्राणसङ्गाद्वैखर्यां वर्णां जायन्ते । ते च त्रिषष्टिः । तद्यथा—अ-इ-उ-ऋ-वर्णाश्चत्वारो ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदा द्वादश लृकारस्य दीर्घो नास्तीति ह्रस्वप्लुतभेदाद् द्विविधः । संध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्तीति दीर्घप्लुतभेदादष्टविधाः । एवं स्वरा द्वाविंशतिः । कादयो मान्ताः पञ्चविंशतिः स्पर्शाः । अन्तस्थाश्चत्वारः । ऊष्माणश्चत्वारः । कुं खुं गुं धुं इति यमाश्चत्वारः । अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीया अं अः क प इति चत्वारः । यथोक्तम्—

स्वरा द्वाविंशतिश्चैव स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ।

यादयः शादयश्चाष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः ॥

अनुस्वारो विसर्गश्च क प इति पराश्रयौ ।

त एते गदिता वर्णास्त्रिषष्टिरिह सूरभिः ॥ इति ।



राजानकश्रीक्षेमराजकृतया टीकया समेता

मित्रः सूर्योऽन्तरशेषद्वैतप्लोषकारित्वादग्निः । वरुणो ह्लादाप्यायकारित्वात् सोमः । 'वर्णान्तः प्रकटकरणैः प्राणसङ्गात् प्रसूते' इति पाठान्तरे या परावाक्शक्तिर्मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती प्रमाणप्रमेयात्मकसूर्यचन्द्राश्रयेणात्माकाशादूर्ध्वं सरन्ती सर्वोत्तीर्णं निजं धाम प्रमातृरूपं स्रवन्ती अस्ति । सैवान्तः प्रकटैरन्तरेव स्फुटैरिन्द्रियैः कृत्वा त्रिषष्टि वर्णान् प्राणसङ्गाद्वेतोः प्रसूते जनयतीत्यन्वयः । इन्द्रियाणां रूपाद्युपलब्धयानुमेयत्वाद् बहिः स्फुटत्वाभावेनान्तः प्रकटीभावः । एतदभिधेयपक्षे उच्चारणप्रसूत्योः क्रमेणानुवाद्यविधेयभावः ॥ ४ ॥

एवं वाक्प्रसरान्तं भगवन्तं स्तुत्वा मध्यमधामसाफल्यमर्थयते —

ऊर्ध्वार्धःस्थान्यतनुभुवनान्यन्तरा सन्निविष्टा

नानानाडिप्रसवगहना सर्वभूतान्तरस्था ।

प्राणापानग्रसननिरतैः प्राप्यते ब्रह्मनाडी

सा नः श्वेता भवतु परमादित्यमूर्तिः प्रसन्ना ॥ ५ ॥

परमादित्यस्य चिद्भ्रानोर्ब्रह्मनाडीरूपा या सेति दिव्या मूर्तिः समुच्छ्रिता-कृतिर्नोऽस्माकं प्रसन्ना प्रशस्ता प्रशमितप्राणादिकालुष्या अत एव श्वेता चिदानन्दघनतया स्फुरन्ती अस्तु । कीदृशी सा ? या ऊर्ध्वमधश्च स्थितानि अतनून्यनल्पानि अनाश्रितादिकालाग्न्यन्तभुवनेशनानाभुवनानि देहे बहिश्चान्तरा मध्ये सन्निविष्टा व्याप्यावस्थिता । तथा नानानाडीनां चक्षुरादिरो-मरन्ध्रान्तानां सुषिराणां प्रसवेन स्फारेण महना सर्वैर्दुष्प्रापा । सर्वेषां स्थावरादिदेवयोनिभेदान्तानां भूतानामन्तरस्था देहमध्ये वर्तमाना । यतश्चोक्तयुक्त्या गहना अत एव कैश्चिदेव प्राणापानयोः सर्वबाह्वप्रशवप्रवेशयोर्ग्रसननिरतैर्भक्षण-प्रगल्भैः प्राप्यते समाविश्यते ॥ ५ ॥

किञ्च—

न ब्रह्माण्डव्यवहितपथा नातिशीतोष्णरूपा

नो वा नक्तं दिवगममितातापनीयापराहुः ।

वैकुण्ठीया तनुरिव रवे राजते मण्डलस्था

सा नः श्वेता भवतु परमादित्यमूर्तिः प्रसन्ना ॥ ६ ॥



साम्बपञ्चाशिका

ब्रह्माणो ब्रह्मबिलावरणनिविष्टस्याण्डं गर्भीकृतभूमूलमायाण्डप्रपञ्च-
शक्त्यण्डं तेन न व्यवहिता अपि तु समन्ततः क्रोडीकारी पन्थाः प्रसरमार्गो
यस्याः तथा अतिशीतः सोमः, अत्युष्णो वह्निः, इयं तु द्वैतदाहादद्वैतानन्द-
स्यन्दित्वाच्च नैवंरूपा । अपि तु समरसीभूताग्नीषोमात्मा । तथा नक्तंदिनं
रात्रिदिनं यो गमो भ्रमणं तेन नो इता प्रमेयभावं न प्राप्ता तद्वती । तथा
अतापनीया परमाह्लादप्रदा तथा अपगतो राहुराच्छादनप्रधानः शून्यप्रमाता
यस्याः सा । किञ्च, रवेश्चिद्भानोर्मण्डले रश्मिपरिवेषे राजते दीप्यते । बाह्या-
कर्ममूर्तिस्तु ब्रह्माण्डव्यवहिता स्वर्लोकान्तमात्रावभासिका शिशिरग्रीष्मादा-
वतिशीतोष्णरूपा अर्हन्तिशं भ्रमन्तो सन्तापिका राह्वभिभूता चेति व्यतिरेक-
ध्वनिः । वैकुण्ठस्य विष्णोर्मूर्तिरिवेत्युपमा । सापि च बलिवञ्चनावसरे
ब्रह्माण्डे ब्रह्माण्डान्तरिद्वयमार्गा न केनचित् । अत एव नातिशीतोष्णरूपा ।
प्रकाशाह्लाददा भक्तानामित्यर्थः । नक्तंदिवगमेनाहोरात्रपरिभ्रमणेन न मिता ।
देवादिभिर्नयत्तया परिच्छिन्नेत्यर्थः । तापनीया महाप्रतापवती । अपगत-
राहुरपक्रान्तरविमण्डला चेति श्लेषः । एवमयमत्रोपमाश्लेषो व्यतिरेकध्वनिना
संसृष्टः ॥ ६ ॥

अथ युगपदन्तर्बहिश्चार्कमूर्ति स्तौति —

यत्रारूढं त्रिगुणवपुषि ब्रह्म तद्बिन्दुरूपं
योगीन्द्राणां यदपि परमं भाति निर्वाणमार्गः ।

त्रय्याधारः प्रणव इति यन्मण्डलं चण्डरश्मे-

रन्तःसूक्ष्मं बहिरपि बृहन्मुक्तयेऽहं प्रपन्नः ॥ ७ ॥

तच्चण्डरश्मेश्चिद्दीप्ताशोर्मण्डलं मुक्तये समावेशात्मजीवन्मुक्त्यर्थं
प्रपन्नोऽस्मि । कीदृशम् ? अन्तश्चिद्भुवि सूक्ष्ममाद्योन्मेषात्म । योगीन्द्रैरेव
लभ्यम् । बहिरपि बृहन्महापरिमाणम् । यत्र सृष्टिस्थितिसंहारकारिरजःसत्त्व-
तमोनिविष्टब्रह्मविष्णुरुद्राभिधायकारोकारमकाराख्यह्रस्वदीर्घप्लुतवर्णत्रया-
त्मत्रिगुणवपुषि प्रणवे विश्ववेद्याविभागवेदनात्मा बिन्दुरिति तदुपलक्षितोन्मना-
न्ताप्रमेयपरिपाटीरूपं यस्य तादृग् ब्रह्म बृहद् बृंहकं च शाक्ततेज आरूढमत्यु-
त्कृष्टतया व्यवस्थितम् । यच्च परममसामान्यम् । योगीन्द्राणां मितयोग्य-
तिशायिपरतत्त्वैकभाजां निर्वाणमार्गो जीवन्मुक्त्युपायो भाति स्वप्रकाशतया
स्फुरति । त्रय्याः प्राङ्निर्णीताया आधार आश्रयः । प्रकर्षेण नूयते उत्कृष्ट-

तथा विमृश्यते परं पारमेश्वरं स्वरूपं येनेति कृत्वा प्रणव इत्येतन्नाम यत् ।
बाह्येऽप्यर्कमण्डले “नवयोजनसाहस्रो विग्रहोऽर्कस्य मण्डलम् । त्रिगुणम्”
इति स्वच्छन्दादिष्टनीत्या यत्र बिन्दुरूपमिति सितवर्तुलाकारं बह्यमयं तद-
सामान्यं बिम्बमारूढम् । तच्च योगिनां निर्वाणमार्गः, तेषां हि सूर्यमण्डल-
भेदनस्य श्रवणात् । तथा वक्ष्यमाणदृशा सामर्ग्यजुर्मयधाममण्डलाकृतित्वात्
त्रय्याधारः । प्रकर्षेण नूयमानत्वात् प्रणवो विश्वशरीरत्वाच्च प्रणवः ॥ ७ ॥

यस्मिन् सोमः सुरपितृनरैरन्वहं पीयमानः

क्षीणः क्षीणः प्रविशति यतो वर्धते चापि भूयः ।

यस्मिन् वेदा मधुनि सरघाकारवद्भान्ति चाग्रे

तच्चण्डांशोरमितममृतं मण्डलस्थं प्रपद्ये ॥ ८ ॥

चिद्भानोर्मण्डलस्थं मध्यधामनिविष्टं तत्परमानन्दरूपममितमनल्प-
ममृतं प्रपद्ये समाश्रये । यत्रामृते सोमः सर्वो मेयवर्गः सुरादिभिः सर्वैः प्रमा-
तृभिः प्रतिदिनं कलाग्रासयुक्त्या पीयमानत्वात् क्षीणः क्षीणः सन् पुनः पुनः
प्रविशति हृद्विश्रान्त्यनन्तरं निमज्जति । यत एव मण्डलाद् भूयोऽपि वर्धते-
ऽभिव्यज्यते मेयरूपश्चन्द्रः । यस्मिंश्च वेदाः सर्वशास्त्राणि मधुनि माक्षिके सर-
घाणां मधुकरीणामाकार इवाग्रे भान्ति पुरः स्फुरन्ति । यथा सरघा माक्षिकं
संचित्य परिवृत्य सोल्लासमासते, तथा सर्वे वेदा वाक्यैकवाक्यतया पराद्वय-
ममृतमामृश्य भ्राजन्ते । बाह्योऽपि सोमः कृष्णपक्षेषु पितृदेवनरग्रस्तकला-
पञ्चदशकोऽमावास्यायां सूर्यमण्डलं प्रविश्य वर्धते । वेदाश्चार्कज्योतिर्लग्ना
आसते ॥ ८ ॥

ऐन्द्रीमाशां पृथुकवपुषा पूरयित्वा क्रमेण

क्रान्ताः सप्त प्रकटहरिणा येन पादेन लोकाः ।

कृत्वा ध्वान्तं विगलितबलिव्यक्तिपाताललीनं

विश्वालोकः स जयति रविः सत्त्वमेवोर्ध्वरश्मिः ॥ ९ ॥

“यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वमिव्यते” इति स्थित्या ऊर्ध्वा
विश्वोत्कृष्टा रश्मयो यस्य । अत एव सतां विद्यमानानामशेषाणां भावः सत्त्वं
महाप्रकाशात्मरूपम् । तदेव तत्परमार्थः । ततश्च प्रकाशमानतया प्रकाशात्म-
न्येव विश्वस्य मग्नत्वात् प्रकाशो विश्वालोकः स एव रविश्चिद्भानुर्जयति

सर्वोत्कर्षेण वर्तते । येनैन्द्रीमाशां प्राच्योन्मेषदशां पृथुकवपुषा योगिगम्यसूक्ष्म-
शाक्तस्पन्दात्मना पूरयित्वा उन्मिषितप्राणादिसंकोचचित्प्राधान्योच्छलितां
कृत्वा “शिवादिसकलात्मान्ताः शक्तिमन्तः प्रकीर्तिताः” इति श्रीपूर्वादिष्टनीत्या
शिवमन्त्रमहेश्वरमन्त्रेश्वरमन्त्रविज्ञानाकलप्रलयाकलसकलाख्याः क्रमात्क्रमं
प्राणीयतुटिस्था निजशक्तिसहिताः सप्तलोकाः “पादोऽस्य विश्वा भूतानि”
इति स्थित्या पादेन निजांशमात्रेणाक्रान्ताः क्रोडीकृत्य स्वज्योतिर्मयीकृताः ।
कीदृशेन ? प्रकटाः स्वात्माभासा रूपादिविश्वहरणाद्धरयश्चक्षुरादिशक्तयो
यस्य । तदुक्तं श्रुती—“युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश” इति । निःसंख्यश-
क्तिरात्मेति ह्यस्यार्थः । कथं क्रान्ताः ? ध्वान्तमात्मन्यनात्मप्रतीत्यात्माज्ञानं
विगलिता बलिर्नात्मन्यात्माभिधायिनी व्यक्त्यर्थस्य तादृक् पाताललीनं
निःशेषप्रशमितं कृत्वा । बाह्येनाप्यर्केण सप्ताश्वारूढेनैन्द्रीं दिशं सूक्ष्मरूपेणा-
पूर्य भूरादिलोकाः पादेन मरीचिभिर्ध्वान्ते ध्वंसयित्वा क्रमेण क्रान्ताः ।
प्रकटहरिणा च नारायणेन विगलिता बल्याख्यस्य दानवेन्द्रस्य व्यक्त्यर्थत्र
तद्ध्वान्तं दानवकुलं पाताललीनं कृत्वा भूरादिलोकाश्चरणविन्यासक्रमेणा-
क्रान्ताः । किं कृत्वा ? पृथुकवपुषा बालवामनशरीरेण इन्द्रादिदिगापूरणं
कृत्वा । सोऽपि विश्वालोकाः सत्त्वप्रधानश्चेत्यत्र श्लेषाऽलङ्कारः । श्लेषोपमा-
ध्वनिसंसृष्टिरियम् ॥ ९ ॥

ध्यात्वा ब्रह्म प्रथममतनु प्राणमूले नदन्तं

दृष्ट्वा चान्तः प्रणवमुखरं व्याहृतीः सम्यगुक्त्वा ।

यत्तद्वेदे तदिति सवितुर्ब्रह्मणोक्तं वरेण्यं

तद्भगर्ख्यं किमपि परमं धामगर्भं प्रपद्ये ॥१०॥

ब्रह्मणा प्रजापतिना वेदेषु प्रणवमुखरमोङ्कारोच्चारणपूर्वं तदित्यादि
गायत्र्याः सवितुर्विश्वप्रसूतिहेतोश्चिदादित्यस्य यत्तत्किमपीत्यसामान्यं भर्गं
इत्याख्या यस्य तत्परमं सर्वोत्कृष्टं धाम परिस्फुरत्तात्म शाक्तं तेजो बाह्यसूर्य-
सोमवह्न्यादिधामक्रोडीकारित्वाद्दामगर्भं वरेण्यमनुग्रहकारि उक्तं, तत्प्रपद्ये
समाविशामि । किं कृत्वा ब्रह्मणोक्तम् ? किं कृत्वा च प्रपद्ये ? प्रथममादावतनु
अशरीरं श्रीभर्गसिखादिष्टनीत्या अकारपरामशक्तिं वीरेश्वराख्यं च ब्रह्म
वृहद् बृंहकं च परं शाक्तं धाम प्राणमूले अप्राणाद्यस्फुरत्ताधाम्नि ध्यात्वा
विचिन्त्यानन्तरं नदन्तमिति नादाख्यं परविमर्शात्मानमन्तरित्युक्तशाक्तरूप-

राजानकश्रीक्षेमराजकृतया टीकया समेता

३

प्राणितकल्पतया स्थितं दृष्ट्वा स्वात्मतया साक्षात्कृत्य तन्नादविमशानुप्रवेशा-
वष्टम्भबलोन्मिषत्प्रणवोच्चारणपूर्वम् । तथा 'भूः स्वाहा' 'भुवः स्वाहा'
'स्वः स्वाहा' 'भूर्भुवःस्वः स्वाहा' इति च मन्त्ररूपा समग्रमेयमानप्रमातृणां
ससंस्काराणां परब्रह्ममयत्वामर्शिनीर्व्याहृतीश्रुतसः सम्यगित्यन्तरामशविष्ट-
म्भाशैथिल्येनोक्त्वा उच्चार्य । अथ च "सर्वव्यवहारानेकरूपाः कथा जपः"
इति शिवसूत्रादिष्टनीत्या तदभेदामर्शप्रधानतया परशाक्तसरसप्लावितान्
संपाद्य । शाक्तधामैकाग्रचवशासादितशाम्भवधामावष्टम्भबलेन व्युत्थानदशा-
मपि तदभेदरसप्रोक्षितां विधायेत्यर्थः । धामगर्भमित्यत्र धामशब्दस्तन्त्रेण
द्विरुक्तः । तथा प्रणवमुखरमिति ॥ १० ॥

त्वां स्तोष्यामि स्तुतिभिरिति मे यस्तु भेदग्रहोऽयं

सैवाविद्या तदपि सुतरां तद्विनाशाय युक्तः ।

स्तौम्येवाहं त्रिविधमुदितं स्थूलसूक्ष्मं परं वा

विद्योपायः पर इति बुधैर्गीयते खत्वविद्या ॥११॥

हे भगवन् ! त्वां स्तुतिभिः स्तोष्यामीति स्तोतृस्तुत्यस्तुतिकल्पनात्मा
यो मे भेदग्रह एषैव चिदद्वयाप्रथनात्माविद्या, तथापि तस्या अविद्यायाः
सुतरामतिशयेन विनाशाय निःशेषोन्मूलनाय युक्तो नित्यसंबद्धस्त्वां स्तौम्येव
देहादिप्रमातृतानिमज्जनेन सर्वोत्कृष्टतया सततं परामृशामि, न तु क्षणमप्यु-
दासीन आसे । त्वामेव चिदकं स्तौमि न तु परिमितां काश्चन देवताम् ।
कीदृशं त्वाम् ? स्थूलं बाह्यप्राणार्करूपम् । सूक्ष्मं मध्यनाडीगतं प्राणब्रह्म-
रूपम् । परं चानवच्छिन्नं विश्वात्मचिदानन्दघनम् । तदिति प्राक्तनवाक्यव्या-
वर्णितमेकमेव । नित्योदितं च । वाशब्दश्चार्थः । युक्तं चैतत् । यतो बुधैस्तत्त्व-
ज्ञैरविद्यैव विद्योपायः पर इत्युक्तः । स्तोत्रस्तुत्यादिविभागकल्पनात्माविद्यया
समस्ताविद्याबीजदेहादिप्रमातृत्वाभिमानप्रशमनेन चिदानन्दघनपरमात्मोत्क-
र्षपरामर्शात्मा स्तुतिः परमसमावेशप्रदेत्यर्थः ॥ ११ ॥

स्तौम्येवेत्युक्ति प्रपञ्चयति—

योऽनाद्यन्तोऽप्यतनुरगुणोऽणोरणीयान् महोयान्

विश्वाकारः सगुण इति वा कल्पनाकल्पिताङ्गः ।

नानाभूतप्रकृतिविकृतीर्दर्शयन् भाति यो वा

तस्मै तस्मै भवतु परमादित्य नित्यं नमस्ते ॥१२॥

हे परमादित्य चिदर्क ! तस्मै तस्मै इति परसूक्ष्मस्थूलरूपाय विश्वात्मने तुभ्यं नित्यं नमः । सर्वकालं देहादिप्रहृतया परामृशंस्त्वामेव समाविशामी-
त्यर्थः । कीदृशाय तस्मै ? यो अनाद्यन्तो देशकालाद्यनवच्छिन्नः । अतनुराका-
रानियन्त्रितः । अतश्च सार्वज्ञादिगुणास्पृष्टः । अणोरत्यन्तसूक्ष्मरूपतया योगि-
दृश्यात् परमाणोरप्यणीयानतिसूक्ष्मः न कस्यापि वेद्यः । अपि तु स्वप्रकाश-
चिदेकरूपः । न तु देशतः संकुचितः । परमाणोः सूक्ष्मस्य वेद्यत्वाद्
दृश्यत्वाच्च । महीयान् व्यापकः । अतश्च विश्वक्रोडीकारित्वाद्विश्वाकारः ।
सार्वज्ञादिगुणयोगात् सगुणः । इत्येवं प्रकारया कल्पनया कल्पितानि
पृथक्पृथक्गुलिलिखितान्यङ्गानि तत्तद्धर्मरूपा अवयवभागा यस्य तादृग् वेत्य-
नयोक्त्याऽत्रच्छिन्नवस्तुविषयशब्दविकल्पासंस्पृष्टं परमेकं स्वरूपमनवच्छिन्न-
मिति ध्वनयति । नानाभूतानि विचित्राः स्थावरादिब्रह्माण्डान्ताः प्राणिन-
स्तेषां प्रकृतीर्मायाप्रकृतिशुक्रशोणितादिकारणानि, विकृतीः कलाबुद्धिदेहा-
दिकान् दर्शयन् य आभाति । संकुचितसर्वाभासोल्लासकतया वा यः
स्फुरतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

तत्त्वाख्याने त्वयि मुनिजना नेति नेति ब्रुवन्तः

श्रान्ताः सम्यक्त्वमिति न च तैरीदृशो वेति चोक्तः ।

तस्मात्तुभ्यं नम इति वचोमात्रमेवास्मि वच्मि

प्रायो यस्मात्प्रसरतितरां भारती ज्ञानगर्भा ॥१३॥

यस्मात्त्वत्तो भारती पश्यन्त्यादिवाक् ज्ञानगर्भा स्वावभाससंवित्प्रधाना
प्रसरति तस्मै तुभ्यं नम इति वचोमात्रमेव, न त्वतिरिक्तं स्तुतिवाक्यादि
वच्मि । ज्ञानस्य सर्ववाक्प्रसरहेतोरनवच्छिन्नस्य विभिन्नस्तुतिवाभिः
स्तोतुमशक्यत्वात् । नमःशब्देन तु देहादिप्रहृतां तुरीयकस्वचित्प्रकर्षपरामर्श-
नस्य कर्तुं शक्यत्वात् । युक्तं चैतत् तत्त्वाख्याने यस्मान्मुनयोऽपि त्वयि त्वद्विषये
अणुर्न महान् न ह्रस्वं दीर्घं नेत्यादि ब्रुवन्तः श्रान्ताः क्लिष्टाः । तैस्त्वमित्येवं-
विधोऽसीति एतादृशो वेति एतत्तुल्यो वेति सम्यगुक्तः । वागगोचर-
त्वादेवेत्यर्थः ॥ १३ ॥

राजानकश्रीक्षेमराजकृतया टीकया समेता

११

सर्वाङ्गीणः सकलवपुषामन्तरे योऽन्तरात्मा
तिष्ठन् काष्ठे दहन इव नो दृश्यसे युक्त्यशून्यैः ।

यश्च प्राणारणिषु नियतैर्मथ्यमानासु सद्भि-
र्दृश्यं ज्योतिर्भवसि परमादित्य तस्मै नमस्ते ॥ १४ ॥

हे परमादित्य चिदर्क ! तस्मै निर्विशेषाय ते तुभ्यं नमः । यस्त्वं स्थावरा-
दिदेवयोन्यन्तानां रुद्रक्षेत्रज्ञानां च सर्वेषां सर्वाङ्गेषु भवो व्यापकः सकल-
वपुषामन्तरे मितग्राहकात्मनि स्वरूपे योऽन्तरात्मा परमानन्दत्वात् “आत्मा
चैवान्तरात्मा च” इति श्रीस्वच्छन्दादिष्टपुयंष्टकप्रमाता तिष्ठन्नवस्थास्तुरपि
युक्त्या योगेन शून्यैरपि न दृश्यसे । यथा काष्ठेऽग्निस्तिष्ठन्नपि यूक्त्यशून्यै-
ररणिमन्थनानभिज्ञैर्न दृश्यते तत्काष्ठकवलिकारिज्वलद्रूपतया नोपलभ्यते ।
यश्च त्वं प्राणारणिषु सर्ववाहमार्गोदयविश्रान्तिपदेषु सद्भिर्योगिभिर्नियतै-
रभियुक्तैर्मथ्यमानासु—

ऊर्ध्वशक्तिनिपाताच्च अधःशक्तिनिकुञ्चनात् ।

रुद्रशक्तिसमावेशं यो जानाति स पण्डितः ॥

इत्याम्नायादिष्टयुक्त्याऽनवरतान्दोलनतः प्रशमितमरुद्व्यापिकासु दृश्यं
ज्योतिर्भवसि स्वप्रकाशचिद्रूपः स्फुरसि । अत्र पर्यायेण प्राणापानावूर्ध्वा-
धरारणिरूपौ । योगिप्रयत्नो मथनकाष्ठम् ॥ १४ ॥

स्तोता स्तुत्यः स्तुतिरिति भवान् कर्तृकर्मक्रियात्मा
क्रीडत्येकस्तव नुतिविधावस्वतन्त्रस्ततोऽहम् ।

यद्वा वच्मि प्रणयसुभगं गोपते तच्च तथ्यं
त्वत्तो ह्यन्यत्किमिव जगतां विद्यते तन्मृषा स्यात् ॥ ५ ॥

हे गोपते चिन्मरीचिचक्रेश्वर ! भवानेकोऽद्वितीयः स्तोत्रादिरूपतया क्रीडति
स्वस्वातन्त्र्यात्तत्तद्रूपतया स्फुरति । यदुक्तं मयैव भैरवानुकरणस्तोत्रे—

स्तोता स्तुत्यः स्तुतिरिति यदपि विभिन्नं न किञ्चिदस्तीह ।

मृशसि यथा यद्रूपं चिद्रूपतया भवस्येत् ॥ इति ।

यतोऽहमिति भवत्कल्पितमेव । ततोऽहमिति संकोचप्रधानो मायाप्रमाता

त्वत्स्तोत्रकरणेऽस्वतन्त्रस्त्वामेव चिदात्मानं स्तौमि । न त्वहं नामान्यः कश्चि-
दित्यर्थः । यच्च किञ्चित्त्वदात्मैवाहं प्रणयसुभगं प्रार्थनामुन्दरं वच्मि तत्सर्वं
तथ्यं त्वत्परमार्थमेव । यतस्त्वत्तश्चिदात्मनो व्यतिरिक्तं जगतां किमिव विद्यते ?
न किञ्चिदस्ति । यदि वा तथापि किञ्चित्संकल्प्यते तन्मृषा स्यात् । नैव भवेत् ।
चिदात्मा विना कस्यचिदपि चेतना चेति तस्य संकल्पविकल्पविषयत्वस्याप्ययोगेन
गगनकुसुमतोऽपि निकृष्टत्वात् । इत्थं युक्तितत्त्वदभेदसारैव स्तुतिः ॥१५॥

प्रातीतिक्रमेण तु यद्यपि भेदस्तथापीत्थं त्वमाराध्योऽस्माकमित्याह—

ज्ञानं नान्तःकरणरहितं विद्यतेऽस्मद्विधानां

त्वं चात्यन्तं सकलकरणागोचरत्वादचिन्त्यः ।

ध्यानातीतस्त्वमिति न विना भक्तियोगेन लभ्य-

स्तस्माद्भक्तिं शरणममृतप्राप्तयेऽहं प्रपन्नः ॥१६॥

ऐन्द्रियकज्ञानवतां मायाप्रमातृणामस्माकमिन्द्रियागोचरो भवानचिन्त्य-
त्वाद्विधानविषयो भवतीति देहादिमितप्रमातृतामज्जनोन्मज्जनचिदर्कभजना-
त्मकभक्तियोगसंपादनीयत्वादभगवतो भक्तिमेव शाक्तस्फारावेशमयामृतप्राप्त-
येऽस्म्याश्रितः । उक्तं च विज्ञानभैरवे—

भक्त्युद्रेकाद्विरक्तस्य यादृशी जायते दशा ।

सा शक्तिः शाङ्करी नित्यं भावयेत्तां ततः शिवः ॥ १६ ॥

हार्दं हन्ति प्रथममुदिता या तमःसंश्रितानां

सत्त्वोद्रेकात्तदनु च रजः कर्मयोगक्रमेण ।

स्वभ्यस्ता च प्रथयतितरां सत्त्वमेव प्रपन्ना

निर्वाणाय व्रजति शमिनां तेऽर्कं भक्तित्रयीव ॥१७॥

हे अर्क ! तव भक्तिः प्रपन्ना समाश्रिता सती शमिनां शान्तरागादिक-
लङ्कानां निर्वाणाय मोक्षाय व्रजति जीवच्छिवत्वाभिव्यक्तये घटते । त्रयी
यथा । साऽपि हि काम्यकर्म परिहृत्याऽनुष्ठीयमाना त्रय्यन्तविदामपवर्गहेतुः ।
तथा चैषा प्रथममुदिता समुन्मिषितमात्रा हार्दं प्रकाशानन्दात्महृद्भवं
तमस्त्वभेदाख्यातिरूपमाणवं मलं संश्रितानां भक्तिभाजां हन्ति नाशयति ।
तदनु सत्त्वस्य प्रकाशस्योद्रेकात्प्रकर्षात्कर्मयोगक्रमेण स्वात्मदेवताविश्रान्तिफ-

राजानकश्रीक्षेमराजकृतया टीकया समेता

१३

लशारीरकमनुष्ठानेन कर्मफलरूपं रजो हन्ति । तथा सुष्ठु अभ्यस्ता परि-
शीलनेन स्वीकृता सतो भावः सत्त्वं प्रकाशैकघनत्वमेव प्रकाशमाने सर्वत्र
प्रथयतितराम् । न तु पशुवन्मायीयमलात्मभिन्नवेद्यप्रथाकृत् । त्रय्यपि
त्रय्यन्तविदां तन्निष्ठानां सत्त्वं प्रथयति ॥ १७ ॥

तामासाद्य श्रियमिव गृहे कामधेनुं प्रवासे
ध्वान्ते भाति धृतिमिव वने योजने ब्रह्मनाडिम् ।

नावं चास्मिन् विषमविषयग्राहसंसारसिन्धौ

गच्छेयं ते परमममृतं यन्न शीतं न चोष्णम् ॥१८॥

तां भक्तिमाश्रित्य चिदर्कस्य ते सम्बन्धि परमममृतं परं शाक्तं धाम
गच्छेयं समाविशेयम् । यच्छैशिरग्रैष्मबाह्यार्कधामवैलक्षण्याच्छीतमुष्णं च न
भवति । अपि तु मोहदाहप्रकाशाह्लादकृदग्नीषोमात्म । कीदृशीं ताम् ? गृहे
शून्ये वेश्मनि श्रियमिव । सम्पूर्णभोगप्रदत्वात् । प्रवासे रिक्तबन्धुदेशे कामधे-
नुमिव चिन्तितमात्राभीष्टफलप्रदत्वात् । ध्वान्ते गाढतमसि भातिमिव ।
पूर्णप्रथाहेतुत्वात् । वने गहनपर्वतादौ धृतिमिव । विश्रान्तिहेतुत्वात् । योजने
परशिवात्मैक्यावेशे ब्रह्मनाडिं सुषुम्णाम् । परमोपायत्वात् । विषमविषया
एव ग्राहा भीषणा जलचरा यत्र तादृशे संसारसमुद्रे नावमिव उत्तार-
कत्वात् ॥ १८ ॥

अग्नीषोमावखिलजगतः कारणं तौ मयूखैः

सर्गादाने सृजसि भगवन् ह्लासवृद्धिक्रमेण ।

तावेवान्तर्विषुवति समौ जुह्वतामात्मवह्नौ

द्वावप्यस्तं नयति युगपन्मुक्तये भक्तिभाजाम् ॥१९॥

हे भगवन् ! अखिलस्य बाह्यस्य नीलसुखादेर्ग्राह्यरूपस्यान्तरस्य च ग्राहक-
रूपस्य देहादेर्जगतो यावग्नीषोमौ सर्ववाहवाही प्राणोऽपानश्च प्रकाशनावस्था-
नहेतुत्वात्कारणम् । तौ प्रसिसृक्षाप्रविविक्षात्मसर्गादानसमये वस्त्वाभासनवि-
मर्शितसृष्ट्यादौ तन्निमित्तं च ह्लासवृद्धिक्रमेण द्वादशषोडशकलाकलनपर्यायितो
मयूखैः सृष्ट्यादि देव्यात्मनिजमरीचिभिः सृजसि मुहुर्मुहुर्निर्मिमीषे । तावेव
च भक्तिभाजामन्तर्विषुवति सम्यङ्नयनात्मसमानमरुत्प्रधाने कुम्भके समौ

सोमसूर्यकलान्योन्यसंघर्षमिश्रितौ सन्तावात्मवह्नावुदानवह्नौ जुह्वतां मुक्तये
शिवात्मभेदप्रथारूपाणवादिमलत्रयप्लुष्टोपलक्षितशिवाद्वैतप्राप्तये द्वावपि
युगपत्क्रमं मयूखैरेवास्तं नयसि विश्वात्मकव्यानव्याप्तिमाविश्य ज्ञानक्रियात्म-
पराग्नीषोमरूपस्वात्ममयी संपादयसि ॥ १९ ॥

स्थूलत्वं ते प्रकृतिगहनं नैव लक्ष्यं ह्यनन्तं

सूक्ष्मत्वं वा तदपि सदसद्व्यक्त्यभावादचिन्त्यम् ।

ध्यायामीत्थं कथमविदितं त्वामनाद्यन्तमन्त-

स्तस्मादर्कं प्रणयिनि मयि स्वात्मनैव प्रसीद ॥ २० ॥

हे अर्क ! ते तव स्थूलत्वं विश्वव्यापकत्वं प्रकृत्या गहनत्वान्नैव लक्षयितुं
शक्यम् । यस्मादनन्तं दिक्कालाकारैरनवच्छिन्नम् । सूक्ष्मत्वमपि वा “अणोर-
णीयात्” इत्येतद्व्याख्यानावसरव्याकृतयुक्त्या परप्रमात्रात्म यत्तदपि सदस-
द्व्यक्त्यभावादुभावाभावरूपत्वेनाप्रतीतेरचिन्त्यम् । तदित्थमनाद्यन्तत्वादविदितं
त्वां कथमन्तः स्वान्ते चिन्तयामि न कथञ्चित् । तस्मान्मयि प्रणयिनि
त्वत्प्रार्थनावहिते स्वयमेव प्रसीद प्रशमितदेहादिप्रमातृताभिमानकालुष्यः
प्रस्फुर ॥ २० ॥

यत्तद्वेद्यं किमपि परमं शब्दतत्त्वं त्वमन्त-

स्तत्सद्व्यक्तिं जिगमिषु शनैर्लाति मात्राकलाः खे ।

अव्यक्तेन प्रणववपुषा बिन्दुनादोदितं स-

च्छब्दब्रह्मोच्चरितकरणव्यञ्जितं वाचकं ते ॥ २१ ॥

यत्किमप्यसामान्यं त्वं तदन्तरित्यन्तर्मुखानवच्छिन्नप्रकाशात्मनि पदे ।
शब्दतत्त्वमिति “शास्त्रं शब्दात्मकं सर्वं शब्दो हंसः प्रकीर्तितः” इति श्रीस्व-
च्छन्दादिष्टानाहतभट्टारकरूपम् । परममिति परमोत्कृष्टम् । यदुक्तं श्रीका-
लोत्तरे— “नादाख्यं यत्परं बीजम्” इति । वेद्यमिति सुप्रकटसुस्फुरत्तात्मक-
त्वादनपह्नवनीयम् । न तु विदिक्रियाकर्मात्मकम् । यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

यस्य रूपं शरीरं वा नास्ति वर्णः क्रियातथा ।

स कथं गृह्यते सूक्ष्मो ह्यग्राह्यो नित्यमव्ययः ॥ इति ।

श्रीभर्गशिखायामपि—

नैष वर्णो न वा शब्दो न चैवायं कलात्मकः ।
 केवलः परमानन्दो वीरो नित्योदितो रविः ॥
 नास्तमेति न चोदेति न शान्तो न विकारवान् ।
 सर्वभूतान्तरचरो भानुर्भर्ग इति स्मृतः ॥ इति ॥

तदेतत्परब्रह्मात्मशक्तिमद्रूपम् । सद्ब्रह्मं जिगमिष्विति । “ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः” इति स्थित्या शक्त्यात्मब्रह्मरूपतां जिघृक्षुः सुषुम्णाधास्मि अकारोकारमकारादिमात्रारूपाः कला विमर्शशक्तिः शनैः शनैः क्रमेण लाति गृह्णाति । इत्थं शक्तिश्चिदकावभासितशब्दब्रह्मभित्तौ प्रणववपुषा ॐकारात्मना अव्यक्तेन पश्यन्तीवाक्प्रधानेन रूपेण न तु व्यक्तेन मध्यमादिनाग्भूमिकास्पृशा । “प्रणवः सर्ववेदेषु” इति स्थित्या क्रोडीकृता-शेषवाच्यवाचकस्फारं शब्दब्रह्मोच्चरति स्वयं प्रवर्तते । न तूच्चार्यते । कीदृक् ? बिन्दुनादाभ्यां समस्तवेद्याभेदिवेदनसमस्तवाचकाभेदिपरामर्श-रूपाभ्यामुदितम् । सर्वोत्कृष्टगगनारूढं सत्कथं समुच्चरति अत्रागमिकीं युक्तिं स्मारयति—करणेन दिव्यकरणबन्धेन न तु जिह्वामूलमध्यादिना व्यञ्जितं प्रकटीकृतम् । यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

दिव्यं तु करणं कृत्वा तत्त्वस्योच्चारणं कुरु ॥ इत्यादि ।

यच्चैतच्छब्दब्रह्मतत्त्वशक्तिस्वरूपामर्शनमुखेनैव ते वाचकं तत्स्वरूपामर्शकम् ॥
 २१ ॥

प्रातः सन्ध्यारुणकिरणभागृङ्मयं राजसं यन्मध्ये

चापि ज्वलदिव यजुः शुक्लभाः सात्त्विकं वा ।

सायं सामास्तमितकिरणं यत्तमोत्लासिरूपं

साह्नः सर्गस्थितिलयविधावाकृतिस्ते त्रयीव ॥२२॥

हे भगवंश्चिदर्क ! अह्नः सार्वजनीनस्य प्राणदिनस्य सर्गस्थितिलयविधौ ते सम्बन्धिनी सा कृतिः क्रोडीकृतशेषसृष्ट्यादिस्तुर्याख्या शक्तिर्विजृम्भत इत्यर्थः । का सा इत्याह—प्रातःहृदुन्मेषात्मनि प्रभाते गुणीभूतप्राणापानवृत्तिः शिवशक्तिसंघट्टात्मा या सन्ध्या तत्र येऽरुणकिरणा अनुन्मिषितवैचित्र्या-दीप्ताः शरीरादयश्चक्षुरादिप्रकाशास्तान् भजते यदत एव राजसं विश्वराजानं



साम्बपञ्चाशिका

विश्वप्रसरासूत्रणं च ऋङ्मयम् । यच्च परधामामर्शनात्मा स्तुतिकृच्च मध्ये
मध्यधाम्नि यजुश्चिदेवतापूजात्मक्रियाशक्तिप्रधानम् । द्वैतेन्धनप्लोषादिव
ज्वलत् । ह्लादात्मसोमव्याप्युन्मज्जनाच्छुक्लभाः अमलमात्मभाःस्वरूपम् ।
सात्त्विकं च सतां भावः सत्त्वं प्रकाशमानत्वं तस्येदं सम्पादकम् । स्वप्रकाशा-
वेशेन विश्वप्रकाशकमित्यर्थः । सायमूर्ध्वतुट्यर्धेऽस्तमितकिरणं गलितप्राणा-
दिसंस्कारक्षयात् प्रशान्तसितोज्ज्वलितमरीचिनिचयम् । अतश्च निःसंस्कार-
द्वैताद्वैतकवलनात्तदपेक्षयैव तमोवस्तुविश्रान्त्यैकरसत्वात् साम । एतत्त्रिविधं
स्थूलसूक्ष्मपरस्वरूपं यल्लासि गृह्णासि सा तवाकृतिस्त्रयीव ऋग्यजुः
सामानीव । तथा हि—प्रातरर्कदेवतास्तुतिप्रधाना ऋग्वेदव्याप्तिः मध्ये कर्मा-
नुष्ठानात्मा यजुर्वेदोदयः सायं विश्रान्तिहेतुगीतप्रधाना सामवेदप्रधानतेति
प्रतिदिनं स्थितिः ॥ २२ ॥

ये पातालोदधिमुनिनगद्वीपलोकाधिबीज-

च्छन्दोभूतस्वरमुखनदत्सप्तसन्तिः प्रपन्नाः ।

ये चैकाश्वं निरवयववाग्भावमात्राधिरूढं

ते त्वामेव स्वरगुणकलावर्जितं यान्त्यनश्वम् ॥ २३ ॥

अतलादीनि सप्त पातालानि । क्षीराद्याः सप्तोदधयः । अत्र्याद्याः सप्त
मुनयः । महेन्द्राद्याः सप्त पर्वताः । जम्बादीनि सप्त द्वीपानि । भूराद्याः सप्त
लोकाः ।

मोहो मदश्च गर्वश्च विषादः कोध एव च ।

भयं च हर्षणं चैव देहे सप्ताधयः स्मृताः ॥

इत्युक्ता मोहाद्याः सप्ताधयः । यवादीनि सप्तबीजानि । गायत्र्यादीनि
सप्तच्छन्दांसि । भूताः प्राप्ताः । एतदामाशत्वात् । ईदृग्विश्वप्रपञ्चरूपा ये
षड्जाद्याः सप्त स्वरास्ते मुखेषु येषां ते तन्मुखास्तानेवार्थान्नदन्तो ध्वनन्तः
सप्त सप्तयो मनोबुद्धीन्द्रियात्मानोऽश्वा यस्य तादृशं त्वां प्रपन्नाः । ये च
निरवयवा वाक् पश्यन्ती तस्या भावः सत्ता तन्मात्राधिरूढं मध्यधामोन्मि-
षत्पश्यन्त्यामर्शपरिमर्शितम् । अचश्चैकाश्वं च त्वां बुद्ध्वा ये प्रपन्नाः,
उभयेऽपि ते त्वामेवानश्वं चिदकं परं ब्रह्म यान्ति त्वदेकतामाप्नुवन्ति ।
कीदृशम् ? स्वरैः षड्जादिभिः गुणैः सत्त्वादिभिः कलाभिरकारादिभिर्वर्जितं

राजानकश्रीक्षेमराजकृतया टीकया समेता

१७

निरुपाधिप्रकाशानन्दधनम् । साश्वोपासनानश्वप्राप्तिहेतुरिति विरोधा-
भासः ॥ २३ ॥

दिव्यं ज्योतिः सलिलपवनैः पूरयित्वा त्रिलोकी-

मेकीभूतं पुनरपि च तत्सारमादाय गोभिः ।

अन्तर्लीनो विशसि वसुधां तद्गतः सूर्यसेऽग्नं

तच्च प्राणास्त्वमिति जगतां प्राणभृत् सूर्य आत्मा ॥ २४ ॥

हे भगवन् ! त्वं ज्योतिःसलिलपवनैश्चित्प्रकाशकरन्ध्रप्रविशच्छाक्तामृत-
प्राणमरुद्भिस्त्रिलोकीं जागरस्वप्नसुषुप्तित्रयीं पूरयित्वा तस्यामेव त्रिलोक्या-
मेकीभूतं सामरस्यं प्राप्तं दिव्यं सारं तुर्यानन्दधनं गोभिरनुत्तरैर्मरीचिभिः
पुनरिति पुनः पुनरादाय चमत्कृत्य अन्तरिति अन्तर्मुखे पदे लीनो वसुधां परां
भूमिं विशसि तन्मयतया स्फुरसि तद्गतश्चान्नमदनविषयं वेद्यजातं सूर्यसे
आश्यानीभूय तदरूपतया स्फुरसि । तच्चात्र प्राणापानावस्थितिहेतुस्त्वमेव
न त्वन्यत् किञ्चिदिति । अनया युक्त्या सूर्यः प्राणभृदात्मा च कथ्यसे । यदाह
श्रुतिः—“अहमन्नमहमन्नदोऽहमन्नादश्च” इति । बाह्योऽपि सूर्यो भूर्भुवःस्वस्त्रयीं
ज्योतिःसलिलपवनैस्तत्र तत्र समय आपूर्य समरसी भूतं दिव्यं त्रिलोक्यां
रसरूपं सारं रश्मिभिर्ग्रीष्मादावादाय पुनरपि भूमिमन्तस्तापनयुक्त्या लीनः
सन् विशति । तद्गतश्चान्नमोषध्याख्यं प्राणावस्थितिहेतुं जनयति । ततः स
एवान्नमन्नदोऽन्नादश्च ॥ २४ ॥

अग्नीषोमौ प्रकृतिपुरुषौ बिन्दुनादौ च नित्यौ

प्राणापानावपि दिननिशे ये च सत्यानृते द्वे ।

धर्माधमौ सदसदुभयं योऽन्तरावेश्य योगी

वर्तेतात्मन्युपरतमतिर्निर्गुणं त्वां विशेत् सः ॥ २५ ॥

यो योगी नित्यौ सततवाहिनौ प्राणापानावेव कवलनाप्यायनहेतुत्वा-
दग्नीषोमौ ज्ञानक्रियाशक्तिप्राधान्यात् प्रकृतिपुरुषौ वेदनविमर्शत्वाद् बिन्दुनादौ
प्रसरविश्रान्तिपदत्वाद् दिननिशे विकाससंकोचनिमित्तत्वात् सत्यानृते ऊर्ध्वा-
धोगतिकारणत्वाद् धर्माधमौ बाह्यानां सत्तासत्तयोज्ञापिकत्वात् सदसदुभयमन्त-

रुदानधाम्नि आवेश्य विलाप्यात्मनि चिद्धाम्नि वर्तेतावतिष्ठेत स त्वां निर्गुणं
सत्त्वादिगुणातीतं परमादित्यं विशत्येव ॥ २५ ॥

गर्भाधानप्रसवविधये

सुप्तयोरिन्दुभासा

सापत्येनाभिमुखमिव खे कान्तयोर्मध्यसंस्थः ।

द्यावापृथ्व्योर्वदनकमले

गोमुखैर्बोधयित्वा

पययिणापिबसि भगवन् षड्रसास्वादलोलः ॥ २६ ॥

हे भगवंश्चिद्भानो ! द्यावापृथ्व्योः सर्वद्वादशान्तात्मान्तरिक्षादेहभूम्योः
कान्तयोर्निजविज्ञानेनैव रमणीयतां प्रापितयोर्वदनकमले शक्तिनलिने गोमुखैर-
नुत्तरैर्मरीचिभिर्बोधयित्वा विकास्य असामान्यशाक्तानन्दास्वादनलम्पटः सन्
पययिण विचित्रोन्मेषनिमेषक्रमैरापिबसि चमत्कुरुषे । कीदृशः ? मध्यसंस्थो-
ऽनीषोमाधिबुद्धः । किमर्थम् ? गर्भे स्वान्तर्यदाधानं प्रक्षेपोऽर्थाद्विश्वस्य प्रसव-
स्तदौचित्येन भासनं तद्विधानार्थम् । कीदृशोर्द्यावापृथ्व्योः ? खे शून्यप्रमातरि
सुप्तयोः—

कलोद्वलितमेतच्च चित्तत्वं कर्तृतामयम् ।

अचिद्रूपस्य शून्यादेर्मितं गुणतया स्थितम् ॥

इति नित्या शून्यप्रधानताश्रयेण निमज्जितपारमार्थिकस्वरूपयोरभि-
मुखावस्थितयोः । कथं सुप्तयोः ? सापत्येन परस्परप्रतियोगित-
यैवाभिमुखं कृत्वा । उभयानुकूलत्वादाभिमुख्यमाश्रित्येत्यर्थः । बाह्योऽप्यको
द्यावापृथ्व्यो रात्राविन्दुभासा सुप्तयोर्भीलितस्वरूपयोरभिमुखावस्थितयोर्मध्ये
गोभिर्वदननलिने विकास्य तदीयविचित्ररसास्वादलोल आपिबति भौमान्त-
रिक्षान् रसान् । गर्भाधानाय ग्रीष्मादौ कर्षण्यादिनिजरश्म्यन्तर्निवेशनाय ।
प्रावृडादौ च प्रसवाय वर्षण्यादिमरीचिविसर्गतो नानौषध्युप्तये । अथ च
सापत्येनाभिमुखयोः सुप्तयोरिन्दुभासोपलक्षितयोः कर्पूराच्छुरितयोः कान्त-
योर्मध्यसंस्थो नायको वैदग्ध्याद् गोमुखैर्वक्त्रपदमे पययिण युगपद् बोधयित्वा
लोचनपरिचुम्बनपुरःसरमुन्निद्रे विधाय वक्त्रासवामृतलम्पटो गर्भस्याधान-
प्रसवनिमित्तमापिबति रतयेत्यर्थं परिचुम्बतीति श्लेषालङ्कारः श्लेषध्वनि-
संस्पृष्टश्च ॥ २६ ॥

सोमं पूर्णामृतमिव चरं तेजसा साधयित्वा
 कृत्वा तेनानलमुखजगत्तर्पणं वैश्वदेवम् ।
 आमावस्यं विघसमिव खे तत्कलाशेषमशनन्
 ब्रह्माण्डान्तर्गृहपतिरिव खात्मयागं करोषि ॥२७॥

हे चिदर्क ! ब्रह्मरन्ध्रावस्थितशाक्तब्रह्मोपलक्षितस्याण्डस्य अन्तरिति धरामूलमायाशक्त्यण्डचतुष्टयस्य मध्ये गृहे स्वात्मयागं करोषि । किं कृत्वा ? सोमं रूपादिपञ्चदशात्मकमेयं तेजसा निजमरीचिविस्फुरणेन पूर्णामृतं चरुरिव साधयित्वा “एकैकत्र च तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता” इति कृत्वा विश्वात्म-निजशाक्तामृताभासमयं स्वसन्निविष्टं विधाय । अनल उदानवह्निमुखं प्राप्यु-पायो यस्य ब्रह्माद्यनाश्रितान्तकारणाधिष्ठितधरादिशिवतत्त्वान्ताध्वविस्फार-मयस्य जगतस्तस्य तर्पणं यत्तदेव वैश्वदेवं यागं तेन सोमेन चरुणा विधाय तस्य सोमस्य कलाशेषं जगत्तर्पणोपयुक्तकलापञ्चदशावशिष्टमूर्ध्वतुट्यार्धाख्या-मावस्यासम्बन्धि अमाख्यकलारूपं विघसमिव कवलिताशेषसंस्कारकल्प-मिवाशनन् ।

अमृतं चन्द्ररूपेण द्विधा षोडशधा पुनः ।
 पिबन्ति च सुराः सर्वे दश पञ्च पराः कलाः ॥
 अमाशेषगुहान्तःस्थामावस्या विश्वतर्पिणी ॥

इति श्रीकालिकाक्रमादिष्टनीत्या विश्वदेवता परमार्थे स्वात्मनि चम-त्कुर्वन् । कीदृक् त्वम् ? गृहपतिरिव । सोऽपि हि पूर्णामृतकल्पमामावस्यं चरं प्रसाध्य तेनाग्निप्रमुखसर्वजगत्तर्पणं वैश्वदेवं च कृत्वा तच्छेषमशनन् स्वात्म-देवतायागं करोति । बाह्योऽपि सूर्यः स्वरश्मितापप्रद्रावितसोमकलापञ्चदश-केन देवर्षिनरात्मजगत्तर्पणं विधायामाख्यकलाचमत्करणात्मश्वात्मयागं ब्रह्मा-ण्डस्यान्तर्विधत्ते ॥ २७ ॥

कृत्वा नक्तं दिनमिव जगद्बीजमाव्यक्तिकं यत्
 तत्रैवान्तर्दिनकर तथा ब्राह्ममन्यत्ततोऽल्पम् ।
 दैवं पित्र्यं क्रमपरिगतं मानुषं चाल्पमल्पं
 कुर्वन् कुर्वन् कलयसि जगत् पञ्चधा वर्तनाभिः ॥२८॥

हे दिनकर विश्वोदयकारिदिवससंपादक चिद्भानो ! जगतः सदाशिवा-
न्तस्य विश्वस्य यद् बीजमारम्भावसानयोरुदयापवर्गकारणं श्रीस्वच्छन्दादिष्ट-
विततपरार्धात्मकालरूपमहोरात्रं तत्कृत्वाऽऽभास्य तत्रैवान्तर्जगतः कलादिक्षि-
त्यन्तस्याशुद्धाध्वरूपस्य बीजं मायेयमहोरात्रं तदन्तरप्याव्यक्तिकं प्राकृतं तदन्त-
रपि ब्राह्मं तत्रापि दैवं तत्रापि पितृयं पितृसम्बन्धि तत्रापि मानुषं क्रमेणाल्प-
मल्पं कुर्वन् कुर्वन्निव वैचित्र्यसहस्रैराभासयन्निव जगद्विस्वं पञ्चधा वर्तनाभिर्वि-
चित्रजागरादिदशापञ्चकपरावर्तनैः कलयसि अन्तरवस्थितं बहिः क्षिपसि ।
निर्मिमीषे निर्मितं च कलयसि । इदमित्थमिदमिदमिति संख्यानेन स्थापयसि ।
स्थापितमपि कलयसि अन्तःसंहरसि । संहृतमपि कलयसि संस्कारगालनेन
विमृशसि । विमृष्टमपि कलयसि स्वात्माभेदेन जानीषे स्वप्रकाशैकात्म्यमा-
पादयसि । तथा पुनरपि स्वरूपात् कलयसि नवं नवमुल्लासयसि । इत्येवं
सर्गस्थितिसंहतिविलापनस्वात्मैक्याभासनपरस्परान्दोलनलीलाक्रान्तं करोषि ।
अत्र जगद्बीजमावर्त्य द्वियोज्यम् । अल्पमल्पमिति बीप्सायाम् । अयमाशयः--
यद्यस्य यावदहोरात्रं तत्तदीये प्राणचारे तदंशांशकास्वपि वा श्रीस्वच्छन्दादि-
ष्टमासोदयादिषष्ट्यब्दोदयान्तप्रक्रियया योगिज्ञानापेक्षयातिपरिमितमाभास-
यति भगवान्, तत्राप्यन्तर्विश्वैकात्म्यप्रथनात् सादाशिवान्तकालकलनामशेषा-
माभासमानोज्यं कालो न त्वस्य वास्तवं किञ्चित्तत्त्वमस्ति । अत एव कुर्वन्नि-
वेतीवशब्देनायमेवार्थः स्पष्टः । वस्तुतो ह्येतावद्विश्वोदयावस्थानविलापना-
द्यात्मा परशेश्वर एवेति स्फुरति । न तु चिदेकवपुषस्ततोऽतिरिक्तं किम-
प्यस्ति । अत्र च मानुषाद्यहोरात्रप्रमाणं श्रीस्वच्छन्दे चोक्तम् तद्यथा —

मुहूर्तास्तु तथा त्रिंशदहोरात्रस्तु मानुषः ।

दक्षिणं चायनं रात्रिरुत्तरं चायनं दिनम् ॥

पितॄणां तदहोरात्रमनेनाब्दं तु पूर्ववत् ।

एवं देवैस्त्वहोरात्रः..... = = = ...॥ इति ।

यत्त्विह दैवं पितॄणं पृथगुक्तं तत्पितृसम्बन्ध्यहोरात्रो ज्ञेयः । तेषां शुक्ल-
कृष्णरूपो हि सः । किञ्च—

कल्पो ब्रह्मदिनं प्रोक्तं चतुर्युगसहस्रकम् ।

षट्त्रिंशत्तु सहस्राणि ब्रह्मणः प्रलयोद्भवः ॥

अव्यक्तस्थेषु रुद्रेषु दिनरात्रिश्च तावती ।

राजानकश्रीक्षेमराजकृतया टीकया समेता

२९१

प्राधानिकपराधेन दशधा गुणितेन तु ।
माया संहरते सर्वं पुनश्चैव सृजेज्जगत् ॥ इति ।

तथा—

शक्तिर्कालपराधस्य कोटिधा गुणितस्य च ।
अनाश्रितस्य देवस्य दिनमेतत् प्रकीर्तितम् ॥

इत्येवमादिः । तथैकत्र प्राणचारे घटिकोदयात् प्रभृति षष्ठ्यब्दोदयान्तं विततं
तत्रादिष्टं ग्रन्थगौरवभयान्न दर्शितम् । एवमहोरात्रकृत्वेन जगद्विपरिवर्तकत्वं
भगवत् उक्तम् ॥ २४ ॥

ये त्वहोरात्रप्रशमे रूढास्ते लोकोत्तरा एवेत्याह—

तत्त्वालोके तपन सुदिने ये परं संप्रबुद्धा
ये वा चित्तोपशमरजनीयोगनिद्रामुपेताः ।
तेऽहोरात्रोपरमपरमानन्दसंध्यासु सौरं
भित्त्वा ज्योतिः परमपरमं यान्ति निर्वाणसंज्ञम् ॥ २९ ॥

हे तपन महाप्रकाशरूप ! ये योगिनस्तत्त्वालोकात्मनि शोभनेऽनिशोदिते-
जस्तमिते दिने पारमार्थिके सर्वदशानुस्यूते सर्वतोमुखे चित्रकाशे सम्यक्
प्राणायामाद्यायासं विना विमर्शयुक्त्या प्रबुद्धा गलिताख्यातितामिस्राः ये चान्ये
चित्तोपशम एव सर्वबाह्याभ्यासनिवृत्तिहेतुत्वाद् रजनी, तस्यां योगनिद्रा-
मुपेताः । प्रशमितविकल्पसविकल्पप्रकाशैक्यमापन्नाः । उभयेऽपि ते प्राग्वर्णित-
समस्ताहोरात्रोपरम एव परमानन्दरूपाः सन्ध्या निमज्जत्प्राणापानव्याप्ति-
शिवसामरस्यभुवः सर्वतोदिक्कमुदितास्तासु सौरमिति प्राणीयमपरममिति
स्थूलं ज्योतिः संकुचितं प्रकाशं भित्त्वा निःसंस्कारं विलाप्य परं निर्वाणमार्गं
यान्ति सदा परं शाक्तं धामाश्लिष्यन्ते ॥ २९ ॥

न केवलां चित्रां कालकलनामकालकलितस्वरूपसमापत्तिं च दर्शयसि,
यावज्जगदुदयापायावपीत्याह—

आ ब्रह्मेदं नवमिव जगज्जङ्गमस्थावरान्तं
सर्गे सर्गे विसृजसि रवे गोभिरुद्विक्तसोमैः ।

दीप्तैः प्रत्याहरसि च लये तद्यथायोनि भूयः

सर्गान्तादौ प्रकटविभवां दर्शयन् रश्मिलीलाम् ॥ ३० ॥

आब्रह्मणः शाक्ताद्रूपादाब्रह्म निजं परं शाक्तं रूपं वर्जयित्वा इदं सर्वं सादाशिवादिक्षित्यन्तं जङ्गमस्थावरे अन्तौ भागौ यस्य तादृग् जगत्सर्गे सर्गे प्रथमेच्छोन्मेषात्मन्यादिसर्गे भूयो भूय उद्विक्तसोमैः स्फीतशाक्तामृतैर्गोभिर्मरीचिभिर्विसृजसि आश्यानीभूतं निजरश्मिरूपं प्रकटयसि । भूयो दीप्तैरग्निप्रधानैर्गोभिस्तज्जगद्यथायोनि प्रत्याहरसि स्वस्वातन्त्र्यावभासिततत्तत्कारणनिवेशपुरःसरं लये स्वचिदैक्याभासनात्मनि संहारे प्रतीपमाहरसि चिदैक्यमेव करोषि । किं कुर्वन् ? सर्गस्य सृष्टेरादौ अन्ते प्रकटविभवां स्फुटमाहात्म्यां रश्मिलीलां प्रकटयन्निजमरीचिविलासमाभासयन् ॥ ३० ॥

श्रित्वा नित्योपचितमुचितं ब्रह्मतेजःप्रकाशं

रूपं सर्गस्थितिलयमुच्चा सर्वभूतेषु मध्ये ।

अन्तेवासिष्विव सुगुरुणा यः परोक्षः प्रकृत्या

प्रत्यक्षोऽसौ जगति भवता दर्शितः स्वात्मनात्मा ॥ ३१ ॥

हे भगवन् ! यः प्रकृत्या स्वभावेन परोक्षोऽक्षागोचर आत्मा असौ जगति सर्वभूतेषु मध्ये भवताऽन्तेवासिषु अनुग्राह्येषु आत्मनैव प्रत्यक्षो दर्शितः स्वप्रकाशतया प्रकटीकृतः । किं कृत्वा ? नित्योपचितं सदा परिपूर्णमुचितं चिदानन्दघनं रूपं श्रित्वा देहादिनिमज्जनेनोन्मग्नं विधाय । कीदृग् रूपम् ? ब्रह्मतेजःप्रकाशं बृहत्त्वाद् बृंहकत्वाच्च ब्रह्म द्वैतदाहित्वात्तेजो यस्य तादृशः प्रकाशः प्रथा यस्य । कीदृशेन भवता ? सर्गस्थितिलयमुच्चा जननादिशून्येन यथाऽन्तेवासिषु शिष्येषु शोभनेन दृष्टतत्त्वेन गुरुणा आत्मा दर्श्यते चिन्मयी सत्ता प्रकटीक्रियते, तथा त्वयान्तः परमात्मतया बहिश्च तेजो विश्वरूपतया स्वयमात्मा प्रकटीक्रियते ॥ ३१ ॥

लोकाः सर्वे वपुषि नियतं ते स्थितास्त्वं च तेषा-

मेकैकस्मिन् युगपदगुणो विश्वहेतोर्गुणीव ।

इत्थंभूते भवति भगवन् त्वदन्योऽस्मि सत्यं

किन्तु ज्ञस्त्वं परमपुरुषोऽहं प्रकृत्यैव चाज्ञः ॥ ३२ ॥

हे भगवन् परानन्दात्मक स्वातन्त्र्यशक्तिस्वरूपपरावागालिङ्गितमूर्ते ! ते तव विश्वहेतोरशेषकारणस्य वपुषि प्रकाशानन्दघने स्वरूपे सर्वे लोका लोक्यमानाः पदार्थाः, लोकयितारश्च रुद्रक्षेत्रज्ञरूपाः प्रमातारः स्थिताः । त्वच्चिदात्मिकां सत्तां विना हि कथमेते त्वत्तो विश्वहेतोरुदियुः । तेषां च लोकानां संबन्धिन्येकैकस्मिन् वपुषि त्वं युगपदक्रमेणैव स्थितः । अन्यथा ते त्वत्प्रकाशतां विना हि कथं प्रकाशेरन् । अतश्च त्वं सत्त्वादिगुणहीनोऽपि विश्वात्मताभासगुणाद् गुणीवाभासि । इत्थमुपवर्णिते विश्वात्मनि भवति सति सत्यमस्मिन्नान्यः । किन्तु त्वमेवभूतः परमः पुरुषो ज्ञः परिपूर्णः सार्वज्ञ्यादिधर्मः । अहमिति त्वयैव देहादिषु ग्राहितप्रमातृभावः प्रकृत्या त्वन्मायामाहात्म्यादज्ञः । अतश्च देहादिप्रमातृतानिमज्जनेनाज्ञतां प्रशमय्य नित्यं स्वात्मसमावेशेन ज्ञतां ममोन्मज्जयेत्यर्थादुक्तं भवति ॥ ३२ ॥

संकल्पेच्छाद्यखिलकरणप्राणवाण्यो वरेण्याः

संपन्ना मे त्वदभिनवनाज्जन्म चेदं शरण्यम् ।

मन्ये चास्तं जिगमिषु शनैः पुण्यपापद्वयं तद्

भक्तिश्रद्धे तव चरणयोरन्यथा नो भवेताम् ॥ ३३ ॥

इत्थमज्ञस्यापि मे त्वदभिनवनाच्चिदात्मत्वदाभिमुख्यप्रवृत्तत्वत्परामर्शात्मस्तुतिवशात् । संकल्पः स्थूलेच्छा । इच्छा सङ्कल्पकारणभूता सूक्ष्मविकल्पपरामर्शात्मा । आदिशब्दात् प्रयत्नस्तदनन्तरमालोचनादिप्रवृत्तानि वाग्वर्जान्यखिलानि करणानि सत्सहवृत्तिः प्राणः, सर्वत्रात्र सूक्ष्मपरामर्शरूपतया व्यापकत्वेन स्थिता वाणी चेत्येते मम वरणे परानुग्रहे साधवो वरेण्या जाताः, तथेदमिति पश्चिमजन्म शरण्यं शरणे साधु अनुग्राह्यानुग्रहैकपरं सम्पन्नम् । अहं हि सर्वदशासु चिदर्कपरामर्शपरः परानप्यनुगृह्णन् स्थितः । किञ्च, मन्ये स्वानुभवेनैवैतच्चेतये यत्पुण्यपापद्वयं सुकृतासुकृतजातं सर्वं तदित्यनन्तजन्मार्जितं शनैरस्तं जिगमिषु हिमविलायं विलीयमानं स्थितम् । प्राक्संचितसर्वकर्मणां हि ध्वंसेऽपि देहारम्भककर्मणां ध्वंसोन्मुखत्वाज्जिगमिष्वित्युक्तम् । अन्यथेति । यदि नैवं स्यात्तत्कथं भवच्चरणयोर्भक्तिश्रद्धे भवेताम् । नैव स्याताम् । यदुक्तं नन्दिशिखायाम्—

यदा शिवेऽभिलाषो वै जायते च नृणां सदा ।

तदा शिवाभिमानास्ते जायन्ते परमाणवः ॥

मुक्तास्तदैव ते दीक्षां प्राप्नुवन्ति गुरोस्ततः ॥ इति ॥ ३३ ॥

सत्यं भूयो जननमरणे त्वत्प्रपन्नेषु न स्त-

स्तत्राप्येकं तव नुतिफलं जन्म याचे तदित्थम् ।

त्रैलोक्येशः शम इव परः पुण्यकायोऽप्ययोनिः

संसाराब्धौ प्लव इव जगत्तारणाय स्थिरः स्याम् ॥३४॥

हे देव ! यद्यपि त्वत्प्रपन्नेषु त्वत्समाविष्टेषु संसारहेतुसर्ववासनादाहाद् भूयो जननमरणे न स्तः, तथापि त्वन्नुतिस्त्वत्स्तुतिरेव फलं यस्य तादृगिदमेकं पश्चिमजन्म याचे । यथा भवदवमर्शात्मचमत्काराधायि एतन्भागात् । तदित्थमनेनैव त्वन्नुतिरसाविष्टेन प्रकारेणास्मिन्नेव देहे परः शम इव शाम्यत्यस्मिन् विश्वमिति व्युत्पत्त्या परः शङ्करात्मस्वभाव इव जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तात्मनि त्रैलोक्ये ईशः प्रभुः । न तु परतन्त्रः । अत एव पुण्यो दर्शनस्पर्शनादिना परानुग्राही कायो यस्य तादृक् । आयोनिरिति नित्योदितचिदानन्दैकघनः सन् जगतो विश्वस्य तारणाय संसाराब्धिमध्ये प्लव इव पोत इव स्थिरः स्यां चिरकालं भूयासम् ॥ ३४ ॥

सौषुम्णेन त्वममृतपथेनैत्य शीतांशुभावं

पुष्णास्यग्रे सुरनरपितृन् शान्तभाभिः कलाभिः ।

पश्चादम्भो विशसि विविधाश्रौषधीस्तद्गतोऽपि

प्रीणास्येवं त्रिभुवनमतस्ते जगन्मित्रतार्क ॥३५॥

हे अर्क ! अतो हेतोस्ते जगतो मित्रता यौगिकमित्रशब्दाभिधेयत्वम्, ततस्त्वं सौषुम्णेन मध्यमेनामृतपथेनाप्यायिना मार्गेण शीतांशुभावमपानचन्द्रमेत्यागत्याग्रे प्रथमं सुरादीन् सर्वान् प्रमातृन् पुष्णासि लब्धावस्थितान् करोषि । केन शान्तभाभिरन्तर्मुखीभावेनोपसंहृतबाह्यप्रथाभिः कलारभिरादिविसर्गान्तस्वाभाविमर्शशक्तिभिः । पश्चादनन्तरमम्भ इति ब्रहिः प्रसरप्रवृत्तान् सर्ववाहान् विशसि स्वामृताच्छुरितान् करोषि । विविधाश्रौषधीविशसि स्थावरादिसर्वबाह्याभासान् स्वप्रकाशापूरितान् विधत्से । तद्गतो मेयप्रपञ्चात्मतया स्फुरितोऽपि त्रिभुवनं विश्वमेवमिति तदाभासनविमर्शनयुक्त्यैव चन्द्रत्वमेत्य पूर्वोक्तनीत्या सुरादीन् प्रीणासि तर्पयसि । बाह्योऽप्यर्कः सुपुष्णामार्गेणामृतसंक्रमणयुक्त्या चन्द्रत्वमेत्य पूर्वोक्तनीत्या सुरादीन् पुष्णाति । शान्तभाभिर्निवृत्तदीप्तिभिः कलाभिः शक्तिभिरम्भो विशसि दक्षिणायने आसारूपता

स्वीकरोति । ओषधीश्च विशति सरसाः करोति । तद्गतश्च वैश्वदेवयागानु-
यागक्रमेण त्रिभुवनं पुष्पान् जगन्मित्रत्वमेव दर्शयति ॥ ३५ ॥

मन्दाक्रान्ते तमसि भवता नाथ दोषावसाने

नान्तर्लीना मम मतिरियं गाढनिद्रां जहाति ।

तस्मादस्तंगमिततमसा पद्मिनीवात्मभासा

सौरीत्येषा दिनकर परं नीयतामाशु बोधम् ॥ ३६ ॥

हे नाथ दिनकर स्वामिन् चिदर्क ! त्वया तमस्यज्ञाने मन्दाक्रान्ते निर्मूल-
नायाघ्राते सति इयं मदीया मतिर्धीं रागद्वेषाणामवसाने जातेऽपि अन्तर्लीना-
ऽन्तर्मुखीभूतापि गाढनिद्रां त्वदभेदाख्यातिं न जहाति । तस्मादेषा त्वया अस्तं-
गमितं तमो यया तादृश्यात्मभाषा स्वदीप्त्या कारणभूतया आश्वविलम्बितमेव
परं बोधं प्रशान्ताख्यातिनिजज्योतिरात्मतां नीयतां प्राप्यताम् । सूर्यो देवता
यस्याऽसा सौरीति कृत्वा पद्मिनीव नलिनीव । सापि त्वया दोषावसाने प्रभाते
तमसि मन्दाक्रान्तेऽन्तर्लीना कर्णिकासंश्लिष्टदला गाढनिद्रां न जहातीत्यस्तं-
गमिततमसा स्वात्मभासा गाढीभूतज्योतिषा प्रबोध्यते त्वया ॥ ३६ ॥

येन ग्रासीकृतमिव जगत्सर्वमासीत्तदस्तं

ध्वान्तं नीत्वा पुनरपि विभो तद्व्याघ्रातचित्तः ।

धत्से नक्तंदिनमपि गती शुक्लकृष्णे विभज्य

त्राता तस्माद्भूवपरिभवे दुष्कृते मेऽपि भानो ॥ ३७ ॥

हे विभो भानो चिन्मरीचिमालिन् ! येन तमसाऽज्ञानेन जगदिदं ग्रासीकृत-
मासीत्, तदनुगृहीतान् प्रत्यस्तं नीत्वा विनाश्य तद्व्याघ्रातचित्त इव तदनु-
कम्पयैव शुक्लकृष्णगती विभज्य व्युत्थानावसरे प्राणापानभूमिकामवरुह्य तद्
ध्वान्तं पुनरपि धत्से पुष्पासि । निर्व्युत्थानं समाधिं जगिति न वितरसीत्यर्थः ।
यथा बाह्यो भानुर्ग्रासीकृतजगत्तिमिरं विनाश्य पुनर्दययेव नक्तंदिनं निशादिने
विभज्य धत्ते पुष्पातीति श्लेषोपमा । यत एवं दुरात्मनि तमस्यपि त्वमनु-
कम्पावानिव ततो मे मम परिभवे व्युत्थानात्मनि क्लेशेऽपि त्राता रक्षिता
भव । कीदृशे परिभवे ? दुष्कृते दुष्टं कृतं करणं विषयहानादानादिपरिभवो
यत्र । निर्व्युत्थानसमावेशरसास्वादिनं मां कुर्वित्यर्थः ॥ ३७ ॥

व्युत्थितः समावेशमप्राप्नुवन् व्युत्थानदशानिर्भर्त्सनपरः समावेशपरं
भगवन्तं प्रार्थयितुमाह—

आसंसारोपचितसदसत्कर्मबन्धाश्रिताना-

माधिव्याधिप्रजननमरणक्षुत्पिपासादिदानाम् ।

मिथ्याज्ञानप्रबलतमसा नाथ चान्धीकृतानां

त्वं नस्त्राता भव करुणया यत्रतत्रस्थितानाम् ॥ ३८ ॥

सत्पुण्यम् । असत्पापम् । यत्रतत्रस्थितानामिति देशे कालेऽवस्थावैचित्र्ये
च त्राता समावेशप्रथनेन रक्षकः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३८ ॥

सत्यासत्यस्खलितवचसां शौचलज्जोज्झिताना-

मज्ञानानामफलसफलप्रार्थनाकातराणाम् ।

सर्वावस्थास्वखिलविषयाभ्यस्तकौतूहलानां

त्वं नस्त्राता भव पितृतया भोगलोभार्भकाणाम् ॥ ३९ ॥

भोगेषु विषयसुखेषु लम्पटानामस्माकमर्भकाणां बालानामिव त्वं पितृतया
जनकत्वेन त्राता भवेति प्रागवत् । त्वं ह्यस्माकं तत्त्वदृष्ट्या जनकः । सत्या-
सत्येत्युभयत्र समम् । स्खलितं प्रमादि एकत्र, अन्यत्राऽस्पष्टवर्णत्वम् । एवं
शौचं चैतं शारीरं च । अफला सफला च या प्रार्थना तया कातराणामधी-
राणाम् । यत्तत्प्रार्थयमानानामिति । सुबोधमन्यत् ॥ ३९ ॥

यावद्देहं जरयति जरा नान्तकादेत्य दूती

नो वा भीमस्त्रिफणभुजगाकारदुर्वारपाशः ।

गाढं कण्ठे लगति सहसा जीवितं लेलिहान-

स्तावद्भक्ताभयद सदयं श्रेयसे नः प्रसीद ॥ ४० ॥

हे भक्ताभयद ! यावद्व्युत्थितामरणावसानां दुर्दशां नाप्नुमस्तावन्नोऽस्माकं
प्रसीद देहादिसंस्कारकालुष्यप्रशमनेन निर्मलीभव । निर्व्युत्थानप्रकाशानन्दघन-
परमसमावेशामृतरसास्वादसुखितानस्मात् संपादयेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ४० ॥

विश्वप्राणग्रसनरसनाटोपकोपप्रगल्भं

मृत्योर्वक्त्रं दहननयनोद्दामदंष्ट्राकरालम् ।

यावद् दृष्ट्वा व्रजति न भिया पञ्चतामेष काय-

स्तावन्नित्यामृतमय रवे पाहि नः कांदिशीकान् ॥ ४१ ॥

मृत्योरन्तकस्य वक्त्रं दृष्ट्वा यावदेष काय इति सपुण्यष्टको देहो भिया भीत्या पञ्चतां मृत्युं न व्रजति तावदेव रवे चिदर्क नित्यामृतमय अनस्तमितपरमानन्दैकघनस्वभाव नोऽस्मान् कांदिशीकान् व्युत्थाने त्वत्समावेशप्राप्तिं विना कां दिशं कायतः का दिक्का दिगस्माकमिति क्रन्दतः पाहि निर्व्युत्थानसमावेशान् संपादय । कीदृङ् मृत्योर्वक्त्रम् ? विश्वेषां प्राणग्रसनो जीवितभक्षको रसनाटोपो लोलरसनाव्यापारो यस्य तादृशि कोपे प्रगल्भं प्रौढम् । तथा दहनानि प्लोषकाणि नयनानि यस्य तादृक् । तथा उद्दामाभिरुजिताभिर्दंष्ट्राभिः करालम् ॥ ४१ ॥

शब्दाकारं वियदिव वपुस्ते यजुःसामधाम्नः

सप्तच्छन्दांस्यपि च तुरगा ऋङ्मयं मण्डलं च ।

एवं सर्वश्रुतिमयतया महयाऽनुग्रहाद्वा

क्षिप्रं सत्तः कृपणकरुणाक्रन्दमाकर्णयेमम् ॥ ४२ ॥

हे भगवन् ! ते तव निर्णीतदृशा सामवेदात्मकं धाम तेजो यस्य तादृशः । यजुर्वेदात्मकं शब्दाकारं वपुः शरीरं वियदिव व्यापकम् । तदपि शब्दाकारमिति शब्दानाकरोति समस्तशब्दाश्रयः । अपि च गायत्र्यादि सप्तच्छन्दांसि ते तुरगाः । मण्डलं प्रभा परिवेषोऽपि ऋग्वेदमय इत्येवं सर्वश्रुतिमयत्वात् । यद्वा अनुकम्पाप्रधानादनुग्रहान्मत्तो मत्सकाशादुक्तवक्ष्यमाणप्रार्थनापरत्वात् कृपणं विरसं संसारविभावकत्वाच्च करुणं करुणरसप्रधानमिममाक्रन्दं त्वत्प्रसादप्रार्थनापरं प्रलपितं क्षिप्रमुदीरणानन्तरमेवाकर्णय करुणयाऽस्मदनुजिघृक्षयाऽवधारय ॥ ४२ ॥

नाशं नास्मच्चरणशरणा यान्त्यपि ग्रस्यमाना

देवैरित्थं सितमिव यशो दर्शयन् स्वं त्रिलोक्याम् ।

मन्ये सोमं क्षततनुममागर्भवृद्ध्या विवस्वन्

शुक्लच्छायां नयसि शनकैः स्वां सुषुम्णांशुभासा ॥ ४३ ॥

हे भगवन् विवस्वन् चिद्भानो ! अस्मच्चरणशरणा देवैरपि ग्रस्यमाना नाशं न यान्ति इत्येवं सितं शुभ्रं यशस्त्रिलोक्यां दर्शयन्निव सोमं क्षततनुं देवैरपि ग्रस्तसमस्तकलं सुषुम्णाख्यमध्यनाड्या अंशवो मरीचयस्तद्भासा दीप्त्या हेतुभूतया अमाख्यकलया गर्भेऽन्तर्या वृद्धिस्तया स्वां शुक्लां छायां संपूर्णसितां कान्तिं नयसि प्रापयसीति मन्ये जानामि । अत्र रहस्यदृशा देवा इन्द्रियाणि सोमोऽपानयुक्त्यान्तः प्रविष्टः षोडशकलारूपात्मा मेयवर्गः सर्वबाहोर्लासयुक्त्या कलाग्रासेन क्षीणकलः सन् सुषुम्णांशुभासा मध्यधामस्फारेणोन्मिषच्छुभाख्यतुर्यप्रकाशदीप्त्या अमाया अन्तनुद्यर्धस्फुरच्छक्ते-र्गर्भेऽन्तर्या वृद्धिः प्राणादिप्राधान्यनिमेषोन्मिषच्छाक्तवीर्यभाभिः स्फुरिता तया शुक्लां चिदेकघनां नयसि प्रापयसीत्यर्थः । बाह्यस्तु स्पष्टः ॥ ४३ ॥

आस्तां जन्मप्रभृति भवतः सेवनं तद्धि लोके

वाच्यं केनापरिमितफलं भुक्तिमुक्तिप्रकारम् ।

ज्योतिर्मात्रं स्मृतिपथमितो जीवितान्तेऽपि भास्वन्

निर्वाणाय प्रभवसि सतां तेन ते कः समोऽन्यः ॥ ४४ ॥

हे भास्वन् ! जन्मप्रभृति यत्त्वत्सेवनं तदपरिमितफलं केन वाच्यं केन वक्तुं शक्यम्, इयत्तया परिच्छेद्यत्वाभावात् । तद्यस्माद् भुक्तिमुक्तिप्रकारं भुक्ति-विषयभोग एव स्वात्मानन्दविश्रान्तिदत्त्वेन जीवच्छिवत्वाभिव्यक्तात्मा मुक्तिरेव च चिच्चमत्कारावेशरूपा भुक्तिः, न तु विषयासक्तिरूपा । तां भुक्तिं मुक्तिं प्रकाशयति सेवकांस्तन्मयान् संपादयति जीवितान्ते निर्वाणव-सरेऽपि ज्योतिर्मात्रात्मा त्वं सतां स्मृतिपथं प्राप्तो निर्वाणाय मुक्तये प्रभवसि । अतस्ते समः कोऽन्यः । असामान्यमहिमाऽसीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अप्रत्यक्षत्रिदशभजनाद्यत्परोक्षं फलं तत्

पुंसां युक्तं भवति हि समं कारणेनैव कार्यम् ।

प्रत्यक्षस्त्वं सकलजगतां यत्समक्षं फलं मे

युष्मद्भक्तेः समुचितमतस्तत्तु याचे यथा त्वाम् ॥ ४५ ॥

अप्रत्यक्षेन्द्रचन्द्रादिदेवताराधनादाराधकानां यत्स्वर्गप्राप्त्यादि परोक्षं कालान्तरे भावि फलं तद्युक्तम् । यतो मृद इव मृण्मयो घटः कारणोचितमेव सर्वत्र कार्यं भवति । त्वं तु चिदर्कः सर्वेषां प्रत्यक्षः स्वप्रकाशः, चिदर्कस्वप्रकाशात्मतां विना कस्याप्यप्रकाशादिति । त्वद्भवतेर्हेतोर्मम नित्योदितत्वत्समावेशात्मफलं समुचितम् । अतो हेतोस्तत्फलं याचे प्रार्थये । यथा कृतिमतीषु देवतासु सतीषु त्वामेव याचे तथा निर्व्युत्थानसमावेशात्मैव फलं याचे । न तु मितं किञ्चित् ॥ ४५ ॥

ये चारोग्यं दिशति भगवान् सेवितोऽप्येवमाहु-

स्ते तत्त्वज्ञा जगति सुभगा भोगयोगप्रधानाः ।

भुक्तेर्भुक्तेरपि च जगतां यच्च पूर्णं सुखानां

तस्यान्योर्कादमृतवपुषः को हि नामास्तु दाता ॥ ४६ ॥

येऽपि च केचिदविमृष्टसमावेशात्ममुख्यफला भगवान्सेवित आरोग्यं दिशतीत्याहुस्तेऽपि जगति तत्त्वज्ञाश्च सुभगाश्च । यतो भोगयोगप्रधाना भोगाय योगाय चारोग्यं वाञ्छन्ति । युक्तं चैतत् । यतोऽमृतवपुषः परानन्द-प्रकाशघनाच्चिदर्कादन्यः को नाम भोगमोक्षयोस्तदाश्रयस्य पूर्णसुखात्मन आरोग्यस्य च दाता । न कश्चित् । “पूरणगुणसुहितार्थ” इति तृप्त्यर्थः सह षष्ठीसमासनिषेधाज्ज्ञापकात् सुखानां पूर्णमित्यत्र षष्ठी ॥ ४६ ॥

हित्वा हित्वा गुरुचपलतामप्यनेकान्निजार्था-

न्यैरेकार्थीकृतमिव भवत्सेवनं मत्प्रियार्थम् ।

तेषामिच्छाम्युपकृतिमहं स्वेन्द्रियाणां प्रियाणा-

मादौ तस्मान्मम दिनपते देहि तेभ्यः प्रसादम् ॥ ४७ ॥

हे दिनपते चिद्भानो ! यैरिन्द्रियैरन्तर्बहिःकरणैर्गुर्वी चपलतां महतीमनव-स्थितिं पुनः पुनः प्रवृत्तामपि तथाऽनेकान्निजार्थान् विषयविश्रान्त्यात्मकानि नानास्वप्रयोजनानि हित्वा त्यक्त्वा भवत्सेवनमन्तर्मुखीभावयुक्त्या त्वत्परि-शीलनं मम प्रियार्थमेवैकार्थीकृतमभিনিवेशेनाश्रितम् । तेषां प्रियाणां स्वेन्द्रिया-णामहमुपकारमिच्छामि । तस्मान्ममादौ तेभ्यः प्रसादं देहि मायीयदेहपरि-हारेण निजमरीचिचक्रात्मतां प्रकटयेत्यर्थः ॥ ४७ ॥

किं तन्नामोच्चरति वचनं यस्य नोच्चारकस्त्वं

किं तद्वाच्यं सकलवचसां विश्वमूर्त्ते न यत् त्वम् ।

तस्मादुक्तं यदपि तदपि त्वन्तुतौ भक्तियोगा-

दस्माभिस्तद्भवतु भगवंस्त्वत्प्रसादेन धन्यम् ॥४८॥

हे विश्वमूर्त्ते अनवच्छिन्न ! त्वन्तुतिविषये इदन्तावच्छेदप्रधानतया असम-
ञ्जसप्रायं किमप्यस्माभिस्त्वद्भूक्ति उक्तं तद्विश्वस्य वाच्यवाचकात्मनस्तव
प्रसादादन्तर्नर्मल्यप्राप्तेर्धन्यमस्तु त्वद्रूपतयैव स्फुरतु ॥ ४८ ॥

या पन्थानं दिशति शिशिराद्युत्तरं देवयानं

या वा कृष्णं पितृपथमथो दक्षिणं प्रावृडाद्यम् ।

ताभ्यामन्या विषुवदभिजिन्मध्यमा कृत्यशून्या

धन्या काचित्प्रकृतिपुरुषावन्तरा मेऽस्तु वृत्तिः ॥४९॥

प्रकृतिपुरुषौ वामदक्षिणवाही अन्तरा तन्मध्ये काचिदसामान्या धन्या
संपन्मयी मे वृत्तिः स्थितिरेतु । कीदृशी ? विषुं व्याप्तिमर्हतीति विषुवत् ।
अभिजयति द्वैतप्रशमनात् सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यभिजित् । सर्वमध्यवर्तित्वा-
न्मध्यमा । स्वानन्दविश्रान्तिसारत्वात् कृत्यैः सौम्यक्रूरादिभिः कार्यैः शून्या
तथा देवप्रीतिकारित्वाद्देवयानं हृदो द्वादशान्तं यावत् प्रसरणरूपं शिशिरव-
सन्तग्रीष्मस्वभावमुत्तरपन्थानमुत्तरायणं या प्राणाख्या वृत्तिर्दिशति प्रथयति,
या वा अपानाख्या वृत्तिर्द्वादशान्ताद्दृत्प्रवेशरूपा प्रावृट्शरद्धेमन्तरूपं दक्षिणं
पन्थानं दक्षिणायनं भोगप्रदत्वाद् कृष्णं पितृप्रीतिहेतुत्वात्पितृपथं दिशति
ताभ्यामन्या व्यतिरिक्ता जीवन्मुक्तिप्रदा । उन्मनाख्येत्यर्थः । षट्त्रिंशदङ्गुले-
ऽङ्गुलषट्के हृदःप्रभृति मकरादिराशुदय इत्यर्थः श्रीस्वच्छन्दादि-
शास्त्रेष्वस्ति ॥ ४९ ॥

स्थित्वा किञ्चिन्मन इव पिबन् सेतुबन्धस्य मध्ये

प्राप्योपेयं ध्रुवपदमथो व्यक्तमुद्दाल्य तालु ।

सत्याद्बुध्वं किमपि परमं व्योम सोमाग्निशून्यं

गच्छेयं त्वां सुरपितृगती चान्तरा ब्रह्मभूतः ॥५०॥

सुरपितृगती अन्तरा ऊर्ध्वाधःप्रवेशात्मनिर्णीतदेवपितृमार्गयोर्मध्ये चकारात्
सर्ववाहानामप्यन्तर्ब्रह्मभूतोऽनवच्छिन्नतां प्राप्तस्त्वां गच्छेयं परतत्त्वात्म-

चिदर्करूपः स्यात् । कीदृशं त्वाम् ? सत्याद्विश्वसत्ताप्रदात् सामरस्याद्धाम्न ऊर्ध्वमुत्कृष्टं प्रकाशानन्दैकघनं किमपि परमं व्योमेत्यनुत्तरचिदाकाशरूपं सोमाग्निशून्यं प्रशान्तप्राणापानसंस्कारम् । किं कृत्वा ? तालुलम्बिकाख्य-
रौद्रग्रन्थिधामव्यक्तिं कृत्वा । दिव्यकरणबन्धाश्रयत उद्दाल्य निर्भिद्य । अथो अनन्तरं ध्रुवपथं प्राप्य समस्तवेद्याविभागप्रकाशात्मविन्दुस्थानमासाद्य ।
सेतुबन्धस्य मध्य इति निरोधकोर्ध्वशक्त्या तटद्वयान्तर्वाहिप्राणापानाद्युत्तरणो-
पायनादनादात्मसृष्टिनिरुद्धसमस्तकरन्ध्रमार्गं स्थित्वाऽधिरुह्य किञ्चिन्मनः
पिबन्निव समनान्तसविकल्पकमनःसंस्कारं प्रशमयन् ॥ ५० ॥

सर्वात्मत्वं सवितुरिति यो वाङ्मनःकायबुद्ध्या

रागद्वेषोपशमसमतायोगमेवारुरुक्षुः ।

धर्माधर्मग्रसनरशनामुक्तये

युक्तियुक्तां

स श्रीसाम्बः स्तुतिमिति रवेः स्वप्रशान्तां चकार ॥५१॥

श्रयन्त्येतां योगिन इति श्रीस्तया मोक्षलक्ष्म्या सहितः साम्बो भगवद्-
वासुदेवसुत इत्येवं रूपां रवेश्चिदर्कस्य स्तुतिं स्वप्रशान्तामात्मविश्रान्तिपराम-
करोत् । 'सुप्रतिष्ठाम्' इति वा पाठः । कीदृशीं स्तुतिम् ? युक्त्या परस्वरूप-
विश्रान्त्यात्मना योगेन युक्ताम् । तत्ख्यापयित्रीमित्यर्थः । स इत्यस्य विषयं
दर्शयति—याः सवितुर्विश्वकारणस्य चिद्भानोः सर्वात्मत्वं वैश्वरूप्यमेव
योगमेकत्वमिच्छति । "वस्तुनोज्येन वस्तुना" इत्याम्नायदृशा योगं परैक्य-
मित्युक्तदृशारोढुमिच्छुः स्वीचिकीर्षुः । न त्वन्यत्किञ्चित् । कीदृशं योगम् ?
सर्वदोषमूर्धन्ययो रागद्वेषयोरुपशमे सति या समता साम्यं तद्रूपम् । केन ?
वाङ्मनःकायसहितया बुद्ध्या । वाचा स्तुतिभिः, मनसाऽनुसंधानतः कायेन
कायप्राधान्येन निमज्जनात्मकप्रणामेन, बुद्ध्याऽध्यवसायेन । किमर्थमिमां
स्तुतिमकरोदित्याह—धर्माधर्माभ्यां यद्ग्रसनमर्थदिवुद्धस्य जगतस्तदेव रशना
बन्धनरज्जुस्तस्या मुक्तये । एतत्स्तोत्रपाठावमर्शाभ्यां जना जीवन्मुक्तिमाया-
न्वित्याशयादित्यर्थः ॥ ५१ ॥

भक्तिश्रद्धाद्यखिलतरुणीवत्त्वेनेदमुक्तं

श्रीसाम्बेन प्रकटगहनं स्तोत्रमध्यात्मगर्भम् ।

यः सावित्रं पठति नियतं स्वात्मवत् सर्वलोकान्

पश्यन् सोऽन्ते व्रजति शुकवन्मण्डलं चण्डरश्मेः ॥५२॥

इदमध्यात्मगर्भं क्रोडीकृत रहस्यम्, प्रकटं बाह्यार्थदृशा, गहनं चाध्यात्म-
कार्थयोगात्, सावित्रं चिद्भानुसम्बन्धि स्तोत्रं श्रीसाम्बेनोक्तं यः कश्चित्
स्वात्मानमिव सर्वलोकान् पश्यंश्चिदभेदात्मविश्वं स्तोत्रार्थं भावयन्नियतं निश्च-
येन पठति अनवरतं विमृशति, सोऽन्ते चण्डरश्मेर्द्वैतग्रासिनश्चिदर्कस्य मण्डलं
लीढविश्वसमरसीभूतमरीचिक्रमेति । तन्मयो जायते । शुकवद् भगवद्व्यास-
सुतवत् । कीदृशेन साम्बेन ? भक्तिश्रद्धे आदी यासां तत्त्वार्थचिन्तादीनां
ता एवाखिलास्तरुण्यो नवनवाः सुन्दर्यस्तासां वल्लभेन क्षणमपि परिहर्तुम-
शक्येन प्रेयसा । न तु रूपलावण्यातिशयमात्रात् समस्तबाह्यरमणीस्पृहणीयेन ।
इत्यनेन व्यतिरेकलभ्येनार्थेन भगद्वासुदेवसुतत्वमात्मनः प्रकटयति ॥ १२ ॥

उपसंहारभङ्ग्या जनाननुजिघृक्षुराशास्ते -

इति परमरहस्यश्लोकपञ्चाशदेषा

तपननवनपुण्या

सागमब्रह्मचर्चा ।

हरतु दुरितमस्मद्वर्णिताकर्णिता वो

दिशतु च शुभसिद्धिं मातृवद्भक्तिभाजाम् ॥ ५३ ॥

इत्युक्तक्रमान्महारहस्यार्थयुक्ता 'स्थित्वा किञ्चिन्मन इव पिबन्' इत्यन्त-
श्लोकानां पञ्चाशदेषा तपनस्य विश्वविचित्राखण्डितप्रतापस्य भगवतश्चिदर्कस्य
नवनेन स्तुत्या पुण्या पवित्रा । तथा सागमा विश्वोपनिषद्रूपमाहेश्वरशास्त्रार्थ-
सतत्त्वगर्भा ब्रह्मचर्चा पराद्वयविमर्शो यस्यां तादृशी अस्मद्वर्णिता सती
आकर्णिता वो युस्माकं सर्वेषां दुरितं हरतु किल्बिषं दुरध्यवसायं च नाशयतु ।
भक्तिभाजां च शुभसिद्धिं दिशतु अभीष्टां भोगमोक्षलक्ष्मीं घटयतामिति
शिवम् ॥ ५३ ॥

कश्चिच्छैवः

परशिवसमावेशगाढानुरागो-

द्रेकस्फूर्जन्नभिनवदशावेशवैवश्यशाली ।

सत्स्तोत्रेऽस्मिन् विवृतिरचनां क्षेमराजो न्ययुङ्क्ते-

त्येतन्नैवं झटिति घटितं दर्शनीयं हि सद्भिः ॥

इति महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविराजानक-

श्रीक्षेमराजप्रणीतविवृतिसमेता

श्रीसाम्बपञ्चाशिका समाप्ता ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

श्लोकार्धानुक्रमणिका

श्लोकांशाः	पृष्ठाङ्काः
अग्नीषोमावखिलजगतः	१३
अग्नीषोमौ प्रकृतिपुरुषौ	१७
अन्तर्लीनो विशसि वसुधां	१७
अन्तेवासिष्विव सुगुरुणा	२२
अप्रत्यक्षत्रिदशभजनाद्यत्	२४
अव्यक्तेन प्रणववपुषा	१४
आ ब्रह्मे दं नवमिव	२१
आमावस्यं विधसमिव	१९
आसंसारोपचितसत्कर्म	२६
आस्तां जन्मप्रभृति भवतः	२४
इति परमरहस्यश्लोक	३२
इत्थंभूते भवति भगवन्	२२
ऊर्ध्वाधःस्थान्यतनुभुवना	५
एवं सर्वंश्रुतिमयतया	२७
ऐन्द्रीमाशां पृथुक्वपुषा	७
ओमित्यन्तर्नदति नियतं	२
किं तन्नामोच्चरति वचनं	३०
कृत्वा ध्वान्तं विगलित	७
कृत्वा नक्तं दिनमिव	१९
गर्भाधानप्रसवविधये	१४
गाढं कण्ठे रुगति सहसा	२६
ज्ञानं नान्तःकरणरहितं	१२

ज्योतिर्मात्रं स्मृतिपथमितो	२८
तत्त्वाख्याने त्वयि मुनिजना	१०
तत्त्वालोके तपन सुदिने	२१
तस्मात्तुभ्यं नम इति	१०
तस्मादस्तंगमिततमसा	२५
तस्मादुवत्तं यदपि तदपि	३०
तां पश्यन्तीं प्रथममुदितं	४
ताभ्यामन्या विषुवदभि	३०
तामासाद्य श्रियमिव गृहे	१३
तादेवान्तर्विषुवति समी	१३
तिष्ठत्यन्तर्बहिरपि	३
तेषागिच्छाम्युपकृतिमहं	२९
तेऽहोरात्रोपरमपरमा	२१
त्रय्याधारः प्रणव इति	६
त्रैलोक्येशः शम इव परः	२४
त्वां स्तोष्यामि स्तुतिभिरिति	९
दिव्यं ज्योतिः सलिलपवनैः	१७
दीप्तैः प्रत्याहरसि च लये	२२
दैवं पित्र्यं क्रमपरिगतं	१९
द्यावापृथ्व्योर्वदनकमले	१८
धत्से नक्तंदिनमपि गती	२५
धर्माधर्मग्रसन रशनामुक्तये	३१
धर्माधर्मौ सदसदुभयं	१७
ध्यात्वा ब्रह्मा प्रथममतनु	८
ध्यानातीतस्त्वमिति न	१३
ध्यायामीत्थं कथमविदितं	१४

श्लोकार्धानुक्रमणिका

न ब्रह्माण्डव्यवहितपथा	३५
नानाभूतप्रकृतिविकृती	५
नावं चास्मिन् विषमविषय	१०
नाशं नास्मच्चरणशरणा	३
पश्चादम्भो विशसि विविधा	२७
प्रत्यक्षस्त्वं सकलजगतां	२४
प्राणापानग्रसननिरतैः	२४
प्राणापानौ वहति च समौ	५
प्रातःसन्ध्यारुणकिरण	२
भक्तिश्रद्धाद्यखिलतरुणी	१५
भाव्यद्वर्णपदक्रमेरिततमः	३१
भुक्तेर्भुक्तेरपि च जगतां	१
मन्दाक्रान्ते तमसि भवता	२९
मन्ये चास्तं जिगमिषु	२५
मन्ये सोमं क्षततनुममागर्भं	२३
मिथ्याज्ञानप्रबलतमसा	२४
यत्तद्वेदे तदिति सवितुः	२६
यत्तद्वेद्यं किमपि परमं	४
यत्रारूढं त्रिगुणवपुषि	१४
यद्वा वच्मि प्रणयसुभगं	६
यश्च प्राणारणिषु नियते	११
यस्त्वक्चक्षुःश्रवणरसना	११
यस्मिन् वेदा मधुनि	३
यस्मिन् सोमः सुरपितृ	७
या पन्थानां दिशति	७
यावद् दृष्ट्वा व्रजति न भिया	३०
	२७

यावद्देहं जरयति जरा	२६
या सा मित्रावरुणसदना	३
ये चारोग्यं दिशति भगवान्	२९
ये चैकाग्रं निरवयव	१६
येन ग्रासीकृतमिव जगत्	२५
ये पातालोदधिमुनिनग	१६
योऽनाद्यन्तोऽप्यतनुरगुणो	९
यः सावित्रं पठति नियतं	३१
लोकाः सर्वे वपुषि नियतं	२२
विश्वप्राणग्रसनरसना	२७
वैकुण्ठीया तनुरिव रवेः	५
शब्दाकारं वियदिव वपुस्ते	२७
शब्दार्थत्वविवर्तमान	१
श्रित्वा नित्योपचितमुचितं	२२
संकल्पेच्छाद्यखिलकरण	२३
सत्याद्गुह्यं किमपि परमं	३०
सत्यासत्यस्खलितवचसां	२६
सत्यं भूयो जननमरणे	२४
सर्वाङ्गीणः सकलवपुषा	११
सर्वात्मत्वं सवितुरिति यो	३१
सर्वाविस्थास्वखिलविषया	२६
सायं सामास्तमितकिरणं	१५
सोमं पूर्णामृतमिव चरुं	१९
सोषुम्णेन त्वममृतपथेनेत्य	२४
स्तोता स्तुत्यः स्तुतिरिति	११
स्तोम्येवाहं त्रिविधमुदितं	९

श्लोकाधिनिर्क्रमणिका

स्थित्वा किञ्चिन्मन इव	३७
स्थूलत्वं ते प्रकृतिगहनं	३०
स्वभ्यस्ता च प्रथयतितरां	१४
हरंतु दुरितमस्मद्वर्णिता	१२
होदं हन्ति प्रथममुदिता	३२
हित्वा हित्वा गुरुचपलता	१२
	२९



उद्धृतवचनश्लोकार्धसूची

साम्बपञ्चाशिकाटीकायाः

अचिद्रूपस्य शून्यादे	१४
अनाश्रितस्य देवस्य	२९
अनुस्वारो विसर्गश्च	४
अंमाशेषगुहान्तस्था	१९
अमृतं चन्द्ररूपेण	१९
अविभागात् पश्यन्ती	४
अव्यक्तस्थेषु रुद्रेषु	२०
अहमन्ममहमन्तादोऽहमन्नादश्च	१७
आत्मा चैवान्तरात्मा च	११
ऊर्ध्वशक्तिनिपाताच्च	११
एकैकत्र च तत्त्वेऽपि	१९
एवं देवैस्त्वहोरात्रः	२०
ॐ तत्सदिति निर्देशो	१५

कलोद्वलितमेतच्च	१४
कल्पो ब्रह्मादिनं प्रोक्तं	२०
केवलं बुद्धयुपादानात्	४
केवलः परमानन्दो	१५
ज्ञानशक्तिः परा ह्येषा	२
तं एते गदिता वर्णा	४
तदा शिवाभिमानास्ते	२३
दक्षिणं चायनं रात्रि	२०
दिन्यं तु करणं कृत्वा	१५
नवयोजनसाहस्रो	७
नादाख्यं यत्परं बीजं	१४
नास्तमेति न चोदेति	१५
नैष वर्णो न वा शब्दो	१५
पादोऽस्य विश्वा भूतानि	४
पितॄणां तदहोरात्र	२०
पिबन्ति च सुराः सर्वे	१९
प्रणवः सर्ववेदेषु	१५
प्राणवृत्तिमनुक्रम्य	४
प्राधानिकपराधेन	२१
भक्त्युद्रेकाद्विरक्तस्य	१२
भयं च हर्षणं चैव	१६
माया संहरते सर्वं	२१
मुक्तास्तदैव ते दीक्षां	२३
मुहूर्तस्ति तथा त्रिश	२०
मृशसि यथा यद्रूपं	११
मोहो मदश्च गर्वंश्च	१६

उद्धृतवचनश्लोकार्धसूची

३९

यदा शिवेऽभिलाषो वै	२३
यस्य रूपं शरीरं वा	१४
यादवः शादयश्चाष्टौ	४
युक्ता ह्यस्य हरयः	८
यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः	७
रुद्रशक्तिसमावेशं	११
वस्तुनोऽन्येन वस्तुना	३१
वेदनानादिधर्मस्य	२
वैखरी वाक्यप्रयोक्तृणां	४
शक्तिः कालपरार्धस्य	२१
शास्त्रं शब्दात्मकं सर्वं	१४
शिवादिसकलात्मान्ताः	८
षट्त्रिंशत्तु सहस्राणि	२०
स कथं गृह्यते सूक्ष्मो	१४
सर्वभूतान्तरचरो	१५
सर्वव्यवहारानैकरूपाः	९
सा शक्तिः शाङ्करी नित्यं	१२
स्तोता स्तुत्यः स्तुतिरिति	११
स्थानेषु विवृते वायौ	४
स्वरा द्वाविंशतिश्चैव	४
स्वरूपज्योतिरेवान्तः	४

उद्धृतग्रन्थग्रन्थकारनामानुक्रमणी

साम्बपञ्चाशिकाटीकायाः

आम्नायः	२, ११, ३१
कालिकाक्रमः	१९
कालोत्तरः	१४
नन्दिशिखा	२३
भर्गशिखा	४, १५
भैरवानुकरणस्तोत्रम्	११
विज्ञानभैरवम्	१२
शिवसूत्रम्	९
श्रीपूर्वशास्त्रम्	४
श्रुतिः	४, १७
स्वच्छन्दः	७, ११, १४, १५, २०, ३०

